



खंड

1

इकाई 1

तीसरी कसम : विश्लेषण और मूल्यांकन 7

इकाई 2

डिप्टी कलकटरी : विश्लेषण और मूल्यांकन 30

इकाई 3

बदबू : विश्लेषण और मूल्यांकन 45

इकाई 4

राजा निरबंसिया : विश्लेषण और मूल्यांकन 63

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. राजेन्द्र कुमार
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो. ए. अरविन्दाक्षन
पूर्व समकुलपति
महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
वर्धा

प्रो. हरिमोहन शर्मा
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो. गोपेश्वर सिंह
प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संकाय सदस्य

प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रो. सत्यकाम
प्रो. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव
(पाठ्यक्रम संयोजक)

पाठ्यक्रम संयोजक

डॉ. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, हिन्दी संकाय
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू नई दिल्ली

खंड संयोजन, संशोधन एवं संपादन

डॉ. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, हिन्दी संकाय
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखक	इकाई सं.
डॉ. अर्चना वर्मा अवकाश प्राप्त एसोसिएट प्रोफेसर हिन्दी विभाग, मिरांडा हाउस, दिल्ली	1-2
डॉ. नलिन रंजन सिंह हिन्दी विभाग, जे.एस.पी.जी. कालेज, लखनऊ	3
प्रो. चितरंजन मिश्र समकुलपति, महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा	4

विशेष सहयोग : डॉ. नमिता सत्येन
डॉ. वावळकर शिवदत्ता
बाजीराव
सुश्री भावना सरोहा

सचिवालयिक सहयोग : सुश्री हेमलता

सामग्री निर्माण

श्री सी. एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)

मई, 2016

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2016

ISBN-978-93-86100-38-2

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना मिनियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. सुनैना कुमार, निदेशक, मानविकी विद्यापीठ द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

Paper Used : "Agro based Environment Friendly"

लेजर टाइप सेटिंग : एच. डी. कम्प्यूटर क्रॉफ्ट, डब्लु जैड 36ए, लाजवंती गार्डन, नई दिल्ली 110046

मुद्रक : अमेटी ऑफसेट प्रिंटर्स, 12/38, साइट - IV, साहिबाबाद, इन्डस्ट्रियल एरिया, गाजियाबाद, (उ.प्र.)

पाठ्यक्रम का परिचय

एम.ए. द्वितीय वर्ष के विद्यार्थी के रूप में अब आप 16 क्रेडिट का 4 पाठ्यक्रमों का कहानी संबंधित माड्यूलर पढ़ रहे हैं। 'हिन्दी कहानी' (एम.एच.डी.-11) इन चारों पाठ्यक्रमों में पहला पाठ्यक्रम है। यह पाठ्यक्रम 5 खंडों और 20 इकाइयों में विभाजित है। इस माड्यूलर का प्रत्येक पाठ्यक्रम 4 क्रेडिट का है।

यह पाठ्यक्रम हिन्दी कहानियों पर केंद्रित है। इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य हिन्दी कहानी की सामर्थ्य से परिचित कराना है। एम.एच.डी.-10 में आप प्रेमचंद की कहानियों का विशेष अध्ययन कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त एम.एच.डी.-03 में भी आपने कुछ प्रमुख कहानीकारों की कहानियों का अध्ययन किया है। इस पाठ्यक्रम में हिन्दी के इक्कीस महत्वपूर्ण कहानीकारों की कहानियों का अध्ययन करना है। यह पाठ्यक्रम हिन्दी कहानी की विकास यात्रा को भी रेखांकित करता है।

इस पाठ्यक्रम में चयनित कहानियों का विस्तृत विश्लेषण दिया गया है। इस विश्लेषण से विद्यार्थियों की आलोचनात्मक क्षमता का विकास होगा। वे इन कहानियों के विश्लेषण से यह सीख सकेंगे कि कहानी को किस प्रकार पढ़ा और विश्लेषित किया जाता है। कहानियों के विश्लेषण के क्रम में इस बात का ध्यान रखा गया है कि उनमें उन प्रवृत्तियों की चर्चा भी अवश्य हो जो संबंधित लेखक के रचनाकर्म को परिभाषित करती हों। इस पाठ्यक्रम में इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि स्वतंत्रता के बाद की हिन्दी कहानी की प्रमुख प्रवृत्तियों का रेखांकन हो सके। इस पाठ्यक्रम का विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

खण्ड - 1

- इकाई - 1 'तीसरी कसम' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 2 'डिप्टी कलक्टर' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 3 'बदबू' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 4 'राजा निरबंसिया' : विश्लेषण और मूल्यांकन

खण्ड - 2

- इकाई - 5 'बिरादरी' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 6 'हंसा जाई अकेला' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 7 'यही सच है' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 8 'मलवे का मालिक' : विश्लेषण और मूल्यांकन

खण्ड - 3

- इकाई - 9 'बहिर्गमन' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 10 'गौरैया' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 11 'झाड़ंगरूप' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 12 'क्लाड ईथरली' : विश्लेषण और मूल्यांकन

खण्ड - 4

- इकाई - 13 'एक जीता-जागता व्यक्ति' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 14 'सुख' : विश्लेषण और मूल्यांकन

- इकाई - 15 'हरी बिन्दी' : विश्लेषण और मूल्यांकन
इकाई - 16 'बोलने वाली औरत' : विश्लेषण और मूल्यांकन

खण्ड - 5

- इकाई - 17 'पार्टीशन' : विश्लेषण और मूल्यांकन
इकाई - 18 'स्विमिंग पुल' : विश्लेषण और मूल्यांकन
इकाई - 19 'बायोडाटा' : विश्लेषण और मूल्यांकन
इकाई - 20 'सिलिया' : विश्लेषण और मूल्यांकन
इकाई - 21 'तलाश' : विश्लेषण और मूल्यांकन

हम चाहते हैं, हमारे विद्यार्थी हिन्दी कहानी के पूरे परिदृश्य से परिचित हों। इस पाठ्यक्रम को तैयार करने का उद्देश्य भी यही है। हमें उम्मीद है, इन इकाइयों के अध्ययन के पश्चात आप हिन्दी कहानी के विस्तृत फलक से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी।

शुभकामनाओं सहित।



खण्ड-1 परिचय

यह कहानी संबंधी माड्यूलर के तीसरे पाठ्यक्रम 'हिन्दी कहानी' का पहला खण्ड है। इस खण्ड में कुल चार इकाइयाँ हैं जो इस प्रकार हैं—

- इकाई - 1 'तीसरी कसम' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 2 'डिप्टी कलक्टरी' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 3 'बदबू' : विश्लेषण और मूल्यांकन
- इकाई - 4 'राजा निरबंसिया' कहानी का विश्लेषण और मूल्यांकन

इस खण्ड में तीसरी कसम (रेणु), डिप्टी कलक्टरी (अमरकांत), बदबू (शेखर जोशी), राजा निरबंसिया (कमलेश्वर) जैसी अत्यंत महत्वपूर्ण कहानियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस खण्ड को पढ़ने के पश्चात आप रेणु, अमरकांत, शेखर जोशी और कमलेश्वर जैसे महत्वपूर्ण कहानीकारों की कहानी कला से भी परिचित होंगे/होंगी। इन इकाइयों में नई कहानी आंदोलन की प्रवृत्तियों पर भी गंभीरता से विचार किया गया है।

हमें विश्वास है, इस खंड के अध्ययन के पश्चात आप नई कहानी की प्रवृत्तियों को ठीक ढंग से समझ सकेंगे/सकेंगी। साथ ही इस खण्ड में शामिल हिन्दी के चार कहानीकारों के रचना संसार का भी संक्षिप्त परिचय आपको मिल सकेगा। इन कहानियों के विश्लेषण से गुजरते हुए आप देखेंगे/देखेंगी कि किसी कहानी की श्रेष्ठता के निर्धारण में उसकी कथावस्तु के साथ-साथ उसके रूप पक्ष का भी बड़ा योगदान होता है। इस पाठ्यक्रम के दूसरे खण्ड में भी आप चार कहानियों का अध्ययन करेंगी/करेंगे।

शुभकामनाओं सहित।

THE PEOPLE'S
UNIVERSITY



इकाई 1 तीसरी कसम : विश्लेषण और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 नयी कहानी आन्दोलन : ग्राम-संवेदना और आँचलिकता
- 1.3 फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियाँ और नयी कहानी
- 1.4 तीसरी कसम : पाठ-बोध और प्रक्रिया
- 1.5 सारांश
- 1.6 अभ्यास

1.0 उद्देश्य

फणीश्वर नाथ 'रेणु' नयी कहानी के एक विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण हस्ताक्षर थे। इस इकाई में आप उनकी एक प्रसिद्ध व सशक्त कहानी 'तीसरी कसम' के पाठ के माध्यम से उनके कथा-साहित्य का परिचय पाएँगे/पाएँगी। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- नयी कहानी आन्दोलन के उस पक्ष की जानकारी पा सकेंगे/सकेंगी जिसका सम्बन्ध फणीश्वरनाथ रेणु के कथा-साहित्य से है।
- नयी कहानी आन्दोलन में फणीश्वर नाथ 'रेणु' की जगह तथा योगदान का आकलन कर सकेंगे/सकेंगी।
- 'तीसरी कसम' के विश्लेषण से 'नयी कहानी' की ग्राम-संवेदना की धारा का परिचय पाएँगे/पाएँगी।
- 'तीसरी कसम' के माध्यम से 'नयी कहानी' के रचनातंत्र तथा सृजन-कौशल का सोदाहरण परिचय पाएँगे/पाएँगी।

1.1 प्रस्तावना

'नयी कहानी' मोटे तौर पर 1950 से 1965 के बीच रचित कहानी साहित्य का नाम है जिसने तरह-तरह के वाद-विवाद से गुजर कर अन्ततः कथाकारों के संगठित वैचारिक प्रयास से एक आन्दोलन की शक्ल ले ली। इस डेढ़ दशक में कथाकारों ने बदलते हुए देशकाल और मानसिकता के अनुरूप बदलती हुई कहानी की वस्तु और रूपविधान को पुनःपरिभाषित किया। इन कथाकारों में प्रमुख नाम राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश के हैं।

स्वाधीनता के उपरान्त शहरी तथा शहरी बनते हुए मध्यवर्गीय जीवन में अनेक विचलन, विघटन तथा परिवर्तन घटित हुए। इनके विषय में आप इकाई नम्बर दो - अमरकान्त की 'डिप्टी कलक्टर' शीर्षक कहानी के विश्लेषण तथा मूल्यांकन के प्रसंग में यथास्थान पढ़ेंगे। इन परिवर्तनों की वजह से इस दौर की कहानियों की उपजीव्य अनुभव-सामग्री, कथा विषयों का वस्तुगत आधार और रचना-विधान बदला। कहानी की वस्तु और रूप-विधान को पुनःपरिभाषित करने वाले तीनों उपरोक्त कथाकार शहरी संवेदना के कथाकार

हैं इसलिए नयी कहानी के सिद्धान्त-विवेचन में मध्यवर्गीय शहरी संवेदना की केन्द्रिकता बनी रही। एक समय पर शहरी संवेदना बनाम ग्राम संवेदना के व्यर्थ विवाद में ग्राम-संवेदना को झूठा, नकली और रूमानी साबित करने का हास्यास्पद प्रयास भी सिद्धान्त-विवेचन का हिस्सा बना।

रेणु ग्राम संवेदना के प्रतिनिधि रचनाकार हैं। 'रेणु' ग्रन्थावली के सम्पादक भारत यायावर के अनुसार रेणु के लेखन का आरंभ 1936 के आस-पास ही हो चुका था लेकिन तत्कालीन प्रकाशन का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। उनकी अगस्त 1944 में पहली उल्लेखनीय कहानी 'वट बाबा' के प्रकाशन के बाद अगले पाँच वर्षों में तेरह कहानियाँ पत्र पत्रिकाओं में छपीं लेकिन पहला कहानी संग्रह 1969 में दस वर्ष के बाद जाकर प्रकाशित हुआ। शायद इसी वजह से वे अपेक्षाकृत विलम्ब से आलोचकों की नजर में आए और उनकी कहानियाँ नयी कहानी के सिद्धान्त-विवेचन में अनदेखी रह गयी।

वाद विवाद का वह दौर बीत जाने के बाद आज पीछे मुड़ कर तत्कालीन कहानियों को समग्रतः देखते हुए स्पष्ट पता चलता है कि नयी कहानी अनेक कथाधाराओं का समुच्चय है जिसमें वस्तु, विधान, दृष्टि, दर्शन, संवेदनाओं, प्रतिबद्धताओं का वैविध्य और बहुलता है। वह किसी वैचारिक सम्प्रदाय या वाद का नहीं, सर्जना के व्यापक प्रगतिशील रुझान और दृष्टि के खुलेपन का नाम है जिसे लेखकों ने अपनी सर्जनात्मक जरूरतों के हिसाब से ढाला। अगर रेणु-रचित ग्राम संवेदना की कहानियों के झरोखे से देखा जाय तो पूर्वोक्त शहरी संवेदना के कथा-साहित्य से एक भिन्न प्रकार के परिवर्तन का परिदृश्य सामने आएगा।

1.2 नयी कहानी आन्दोलन : ग्राम-संवेदना और आँचलिकता

नई कहानी को लेकर हुए वाद-विवाद से सम्भवतः आपके मन में प्रश्न उठेगा कि नयी कहानी में मौजूद बहुलताओं और विविधताओं के आरपार तथा सबमें समान रूप से मौजूद किस प्रवृत्ति या विशेषता के कारण वह 'नयी विशेषण' के योग्य बनती है। उसमें 'अलग' और 'विशिष्ट' ऐसा क्या है? जिसके कारण उसे पूर्व परम्परा की अपेक्षा 'नयी' कहानी कहा जाए।

एक नुक्ते में कहें तो 'अनुभव की प्रामाणिकता' का आग्रह कहानी को 'नयी कहानी' बनाता है। 'अनुभव की प्रामाणिकता' का अर्थ प्रायः 'भाववाद' और 'परिप्रेक्ष्यविहीन अनुभाववाद' से गडङ्-मडङ् करके गलत समझ लिया जाता है। इसके बारे में आप थोड़ा विस्तारपूर्वक इकाई नम्बर आठ में, मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' के विश्लेषण में यथा-स्थान पढ़ेंगे। यहाँ आवश्यकतानुसार इतना समझ लीजिए कि अनुभव की प्रामाणिकता का सम्बन्ध लेखक के भुक्त-भोगी या स्वयं-साक्षी होने से नहीं है, यद्यपि लेखकों ने प्रायः स्वयं 'जिये हुए, भोगे हुए' की शब्दावली में अनुभव की बात करके ऐसा घोषित किया है। लेकिन रचना स्वयं जीवन का प्रतिरूप नहीं है कि 'जिया-भोगा' अनुभव अपने आप 'जिया-भोगा' सा प्रतीत होने लगे। अनुभव की प्रामाणिकता रचना के विधान तथा भाषा के व्यवहार द्वारा अनुभव की विश्वसनीयता के अर्जन का मामला है। प्रस्तुत इकाई में आप तीसरी कसम के पाठ से उन विधियों के बारे में जानेंगे जिनसे रेणु की कहानी अपने अनुभव की प्रामाणिकता का अर्जन करती है।

'नयी कहानी' स्वाधीनता के उपरान्त कथा साहित्य की पहली हलचल का नाम है। शुरुआती लक्षण 1950 में दिखे लेकिन इसकी लगभग सभी धाराओं के सूत्र स्वाधीनता के पहले से चलते आए दिखाई देते हैं और कुछ बदलावों के कारण नये से भी दिखायी देते

हैं। इस तरह वे पूर्व जुड़े हुए भी हैं और नवीन सूत्रपात भी हैं। सामान्यतः परिवर्तन का यही नियम है।

स्वाधीनता की पूर्वसंध्या की विरासत

विजयदेव नारायण साही के 1953 में लिखित ‘साहित्य में गतिरोध’ शीर्षक आलेख में पिछले दस साल की साहित्यिक गतिविधियों का (लगभग 1943-1953) जायजा लिया गया है। वे स्वयं कवि तथा नयी कविता आन्दोलन से जुड़े थे लेकिन इस लेख में उन्होंने जिन प्रवृत्तियों और गतिविधियों की बातें की हैं वे कविता और कहानी पर समान रूप से लागू होती हैं। इस लेख से स्वाधीनता की पूर्व-संध्या के साहित्यिक परिदृश्य का अन्दाजा लगाया जा सकता है। उन्होंने तीन प्रवृत्तियों को रेखांकित किया है।

1950-51 में प्रगतिवादी धारा के लेखक आत्मालोचन और आत्म-परीक्षण की प्रक्रिया से गुजर रहे थे। वे महसूस कर रहे थे कि दिनोदिन एक सीमित दायरे में बँधते हुए वे केवल एक छोटे से वर्ग के रूप में शेष रह गये थे क्योंकि साहित्य की व्यापक जनवादी चेतना का आधार छोड़कर वे कम्यूनिस्ट पार्टी की सामयिक नीति को साहित्य-सृजन का आधार मान बैठे थे। साही ने इस सन्दर्भ में अमृतराय को उद्धृत किया है- “हमारा आधार बिल्कुल संकुचित हो गया है और हम सभी नये पुराने हिन्दी लेखकों से कट कर बिल्कुल अलग जा पड़े हैं और महज एक गुट बनकर रहे हैं। यह हमारी वामपंथी संकीर्णता ही थी जिसके कारण हम आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण की मुख्य धारा से कटकर बिल्कुल अलग जा पड़े।... आज समूचे हिन्दी साहित्य के पैमाने पर प्रगतिशील लेखक का मतलब होता है रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, पहाड़ी, अमृतराय, नागार्जुन, केदार, शंकर शैलेन्द्र... और बस!” (-अमृतराय के ‘साहित्य में संयुक्त मोर्चा’ से)

इस गतिरोध से निकलने के लिये कम्युनिस्ट पार्टी के नेता पी.सी.जोशी ने ‘फॉर ए मास पॉलसी’ में व्यापक जनवादी चेतना के साहित्य के साथ ‘न्यूनतम साझा कार्यक्रम का सुझाव दिया। न्यूनतम कार्यक्रम का अर्थ सृजन और मूल्यांकन के लिये उन कुछ विषयों और मान्यताओं को निर्धारित करना था जिस पर सब एक मत हो सकें। इस सुझाव पर टिप्पणी करते हुए साही कहते हैं कि “साहित्य में ‘न्यूनतम कार्यक्रम’ को वह सफलता नहीं मिल सकती जो राजनीति में कभी कभी मिल जाती है। विराट मानव को अगणित दृष्टियों से मापने वाला, विविध रूपों में प्रस्फुटित होने वाला स्थायी साहित्य दो-चार ऐसे विषयों में सीमित नहीं हो सकता जो किसी मीटिंग में प्रस्तावों द्वारा मंजूर कर लिये गये हों।”

‘तीसरी कसम’ के मूल्यांकन के प्रसंग में आप किंचित विस्तार से विश्वनाथ त्रिपाठी के मत को परीक्षित होते देखेंगे जो कहानी के विषय में बहुत सी मूल्यवान अन्तर्दृष्टियाँ देने के बावजूद ‘न्यूनतम साझा कार्यक्रम’ के विषय चयन और मूल्यांकन की मान्यताओं का शिकार होने से नहीं बच पाता।

दूसरी प्रवृत्ति अति-आधुनिकतावाद है। इस सर्वथा जड़विहिन और उच्छिन्न प्रवृत्ति का किंचित विस्तृत विवरण देते हुए लक्ष्मीकान्त वर्मा ने बताया है कि ‘भारतीय और पश्चिमी संस्कृतियों की मिलावट से एक विचित्र प्रकार का युवा वर्ग इस देश में पैदा हुआ था जो सारे प्रतिष्ठित मूल्यों को टुकरा कर एक सर्वथा अस्वीकारवादी जीवन बिताना चाहता था। कुछ भी उदात्त या पवित्र उन्हें अविश्वसनीय प्रतीत होता था। इन पर टिप्पणी करते विजयदेव नारायण साही का कहना है, “कुछ अति आधुनिक ऐसे भी हैं जिन्होंने वास्तविकता के आगे घुटने टेक दिये हैं और व्यक्ति की मानसिक अस्वस्था को ही सबसे

उपादेय सत्य स्वीकार कर चुके हैं। इनमें सोचने की क्षमता तो है किन्तु इच्छा और साहस नहीं। भँवर को प्रतिक्षण नीचे ले जाने वाली गति ही इनके लिये आकाश की उड़ान है।”

जितने भी समय के लिये यह अतिवादी आधुनिकता प्रबल रही हो, वह अवधि में बहुत लम्बी या अभिव्यक्ति में बहुत स्थायी नहीं थी। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भुवनेश्वर के सन्दर्भ में इस पृष्ठभूमि का यह परिचय दिया है और संभवतः वही अकेले इस प्रवृत्ति की सर्जनात्मकता का चरम स्पर्श कर सके। नरोत्तम नागर, सुरेन्द्र बालूपुरी जैसे एकाध नाम और है लेकिन उनका कोई स्थायी महत्व का योगदान नहीं।

इन अतिवादिताओं के परे तीसरी प्रवृत्ति का परिचय देते हुए वे कहते हैं, “विशाल निर्घोष की तरह फैलता हुआ हिन्दी के अधिकाधिक साहित्याकारों का स्वर है। इस स्वर में विविधता है, वैचित्र्य है और अपना अपना अनुभूत सत्य है। आज हिन्दी में वह पीढ़ी उभर कर आई है जिसने सन 42 में विश्व के महान साम्राज्यवादी षड्यंत्रों के विरुद्ध एक निरस्त्र साधनहीन क्रान्ति का आह्वान किया था। वह पीढ़ी आज दस वर्षों बाद अपनी परिपक्व लेखनी को भारतीय जन-संस्कृति के नव निर्माण के लिये अर्पित कर रही है। उसने क्रान्ति का पाठ पढ़ा है, किन्तु रक्तपाल में अन्धी होकर मानव मूल्यों का विस्मरण नहीं किया है।”

‘साहित्य में गतिरोध’ नामक इस निबन्ध में साही वस्तुतः अनास्थावाद, परम्परा द्रोह और मूल्यध्वंस के आरोपों से अपनी पीढ़ी के युवा लेखन का बचाव कर रहे हैं। इन आरोपों का कारण वे आकलन की इस भूल को मानते हैं कि “हम भारतीय लेखकों की युद्धोत्तरकालीन मनोवृत्ति को यूरोपीय लेखकों की युद्धोत्तरकालीन मनोवृत्ति के समकक्ष सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। युद्ध को भारतीय जनता ने उस रूप में ग्रहण ही नहीं किया, न उससे यथावत उस रूप में प्रभावित ही हुई जिस रूप में यूरोप प्रभावित हुआ। यूरोपीय मध्यवर्ग या निम्न मध्यवर्ग की भाँति हूबहू हममें वह चारित्रिक अराजकता, अनास्था, व्यक्तित्व का बिखराव आ गया है, ऐसा कहना न केवल कुत्सित समाजशास्त्रीयता है बल्कि हृदय दर्जे की निराशावादिता है। युद्ध के बाद का भारत प्रजातांत्रिक पद्धति का भारत है। निश्चय ही हम पूर्ण अनास्था और भ्रमविच्छेद के युग से नहीं गुजर रहे हैं, हमारी सांस्कृतिक जड़ उखड़ी नहीं है, वे और भी गहरी पैठ रही हैं, ऊपर की पुनरुत्थानवादी परतों को तोड़कर अपनी संस्कृति के व्यापक जनवादी और लोकपरक तत्वों तक पहुँच गयी हैं। यूरोपीय अराजकता का आरोप हम पर करना अवैज्ञानिक है। हमारा झुटपुटा प्रभात का है, सन्ध्या का नहीं।”

स्वाधीनता के उपरान्त पहले दशक का आनन्दोल्लास और आशावाद इन पंक्तियों में अभिव्यक्त हुआ है, यद्यपि उस समय कम्युनिस्ट पार्टी ने इसे स्वाधीनता मानने से इंकार किया था।

1953 में पिछले दस वर्षों की साहित्यिक गतिविधियों के आकलन में जिन पूर्वागत सूत्रों का जिक्र विजयदेव नारायण साही ने किया है वे अपने अधिक संयत, समंजित, सन्तुलित और सर्जनात्मक नूतन अवतार में नयी कहानी में प्रकट हुए। विरासत में स्वाधीनता की पूर्वसंध्या से प्राप्त इस परिदृश्य में नयी पीढ़ी का आगमन होता है। यह प्रगतिवादिता और आधुनिकता, समाजवादिता और व्यक्तिवादिता की अतियों के ऊपर व्यक्तिपरक समाजोन्मुखता या समाजोन्मुख वैयक्तिकता को लेकर चलने वाली प्रगतिशील और आधुनिक रचनाकार पीढ़ी है। इतना अवश्य है कि एक धारा ने सामाजिक पृष्ठभूमि को पीछे डालते हुए बदलाव की स्थितियों को व्यक्ति में एकाग्र और केन्द्रीभूत कर दिया। ये प्रायः शहरी संवेदना की कहानियाँ थीं और नगरीकरण तथा महानगरीकरण की प्रक्रिया में आते हुए बदलावों का

चित्रण करती थीं जिन्हें व्यक्ति अपने स्नायुतंत्र पर झेल रहा था। दूसरी धारा ने व्यक्ति को समाज का प्रतिनिधि मात्र बनाते हुए उसे पृष्ठभूमि के बदलावों में प्रसरित कर दिया।

फणीश्वरनाथ रेणु उसी रचनाकार समुदाय का अंग है जो स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय तथा प्रतिबद्ध रहा है, जिसकी सांस्कृतिक जड़ उखड़ी नहीं है और जो अपनी लेखनी से सतह की पुनरुत्थानवादी परतों को फोड़ कर अपनी संस्कृति के व्यापक जनवादी और लोकपरक तत्वों तक पहुँच रहा है।

ग्राम संवेदना

स्वाधीनता का अर्थ ग्रामीण भारत के लिए ठीक वही नहीं था जो शहरी भारत के लिए हुआ। ग्रामशिल्प और उद्योग-धन्धे विदेशी सत्ता के हाथों पहले ही उजड़ चुके थे, जमीन्दारी और ताल्लुकेदारी व्यवस्था ने किसानों की कमर तोड़ रखी थी। आजादी की लड़ाई में किसानों को समरभूमि में उतार लाने से संग्राम को ताकत और जीवन मिला था लेकिन आजाद भारत के भविष्य के नक्शों में उन्हें अपेक्षित जगह नहीं दी गयी और जितनी दी भी गयी वह उत्तरोत्तर छिनती चली गयी।

आजाद भारत की अर्थव्यवस्था का बुनियादी आधार बिना किसी उपयुक्त तैयारी के, एक झटके में बदल दिया गया। कृषि प्रधान देश में विकास का मॉडल औद्योगीकरण पर आधारित किया गया। शासक बदल गये लेकिन गाँव शहर के उपनिवेश ही बने रहे। अर्थव्यवस्था के दोनों क्षेत्रों में अपेक्षित सन्तुलन स्थापित नहीं हुआ। औद्योगीकरण की जरूरतों और नीतियों से कृषिभूमि का क्षेत्रफल उत्तरोत्तर विघटित होता गया। कृषि आधारित घरेलू उद्योगों का विकास स्थगित हुआ। शिल्पी और श्रमिक वर्ग का गाँव से पलायन और विस्थापन लाजमी था।

किसान का अस्तित्व खेत के साथ बद्धमूल होने के कारण गाँव से जुड़े रहने को मजबूर था। पराधीन भारत में साहित्य का बड़ा हिस्सा जमीन्दारी व्यवस्था के तहत किसान की दुर्दशा का दस्तावेज था। आजादी के बाद भी वह दुर्दशा जारी एक जैसी या एक साथ नहीं हुई। हिन्दीभाषी इलाका अनेक प्रदेशीय है। यह बदलाव अलग अलग प्रदेशों में अलग अलग रूपों में तथा असमान स्तर का हुआ। जैसे बिहार। हालांकि बिहार सरकार का जमींदारी उन्मूलन कानून पहले-पहल कानून भी 1950 में जमींदारों के सख्त विरोध के बीच पारित हुआ था, लेकिन कार्यान्विति में असामान्य विलम्ब तथा 1954 और 1959 में संशोधनों के बाद जब वह अन्ततः लागू हुआ तब तक उसमें जमीन्दारों के हितों की रक्षा के लिये अनेक प्रावधान किये जा चुके थे और विलम्ब के कारण उन प्रावधानों का लाभ उठाने लायक समय भी उपलब्ध कराया जा चुका था। विधान-सभा और प्रशासन-तंत्र इसी तबके के लोगों से भरा पड़ा था। इन सारे कानूनों में खेतिहर मजदूरों और भूमिहीन किसानों का कहीं नामोनिशान नहीं था। वे अधीनता या पलायन के लिये मजबूर थे। फणीश्वर नाथ रेणु की कर्मस्थली और रचना में चित्रित भूगोल इसी बिहार में पूर्णिया का ग्राम-अंचल है।

जमीन्दारी उन्मूलन का अर्थ ग्राम-समाज में वर्चस्व की व्यवस्था का, शक्तिविमर्श के ताने-बाने का बदल जाना था। जजमान और परजा-पउनी के सामाजिक सम्बन्धों के समीकरण बदले। सेवा के बदले संरक्षण का धारणात्मक सम्बन्ध समाप्त हुआ। काम के बदले दाम की व्यवस्था में समय समय पर कहने को सेवा के सरकारी मूल्य अथवा मजदूरी की न्यूनतम सरकारी दरें निर्धारित होती रहीं और तरह तरह की अन्य कल्याण योजनाएँ भी निर्मित, घोषित और कहने को कार्यान्वित भी होती रहीं लेकिन दर असत्य शोषण ने नये

नये चेहरे पहन लिये। मंझोले और छोटे किसान, भूमिहीन किसान अथवा खेतिहर मजदूर शोषण के दायरे में फँसे के फँसे रह गये। लेकिन तब, स्वाधीनता का पहला दशक और नेहरूयुग का स्वप्नदर्शी समय था।

स्वाधीनता के बाद पहले दशक में जब टूटते परिवारों, असफल विवाहों, अहंकेन्द्रित टकराहटों और अकेलेपन के अवसाद की शहरोन्मुख संवेदना की अपरिचित सामग्री वाली कहानियों को 'नयी' के रूप में स्थापित करने के लिये मोर्चा लिया जा रहा था तब ग्राम कथा सहज-स्वीकृत रूप से पहले से स्थापित असली हिन्दी कहानी थी। विवेकी राय, शिवप्रसाद सिंह, नागार्जुन, रेणु, रामदेश मिश्र, श्रीलाल शुक्ल, अमरकान्त, शैलेश मटियानी, भैरव प्रसाद गुप्त आदि एक लम्बी कतार ग्रामजीवन के कथाकारों की थी। सरकार का ध्यान और विकास योजनाओं का रूप भी ग्रामोन्मुख था।

स्वाधीनता के बाद कहानी की गहमागहमी का घटनास्थल प्रमुख रूप से शहर हो गया। शहरीकरण की प्रक्रिया में 'कस्बा' भी एक घटनास्थल की तरह उभरा। मानसिकता और संवेदना भी 'ग्राम्य' और 'कस्बाई' जैसे विशेषणों के द्वारा परिभाषित हुई। कस्बाई मानसिकता यानी जो गाँव से तो उखड़ चुकी लेकिन शहरी नहीं बनी, दोनों जगह अधकचरी होकर रह गयी। ग्राम्य जीवन का एक प्रतिनिधित्व वह सामज भी करता है जो शहरीकरण की प्रक्रिया में या आजीविका की तलाश में विस्थापित होकर शहर पहुँचा लेकिन हाशिये पर स्थित अकिंचन समाज की हैसियत से बाहर नहीं आ पाया। ग्राम्य से लेकर नागर जीवन तक के बीच की इन विविध स्थितियों को विषयवस्तु बना कर चलने वाले कथाकारों में प्रमुख नाम फणीश्वरनाथ रेणु, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, रामदरश मिश्र, शेखर जोशी, शैलेश मटियानी, मधुकर गंगाधर आदि के हैं।

सामान्य पाठक के मन में आज तक भी गाँव की तस्वीर कमोबेश वही है जो प्रेमचंद की रचनाओं ने उसके मन में खींची है लेकिन स्वाधीनता के बाद का गाँव प्रेमचंद का गाँव नहीं है। विभिन्न अंचलों या जनपदों के लोक-जीवन को लेकर लिखी गयी इन कहानियों में ताजगी है और प्रेमचंद की गाँव पर लिखी कहानियों से भिन्नता और नवीनता भी।

आँचलिकता

इस दौर की ग्राम-कथा के शिल्प में आँचलिकता एक महत्वपूर्ण उद्भव है। आँचलिकता वस्तु-सामग्री भी है और शिल्प-कौशल भी। आँचलिकता का अर्थ केवल स्थानीय-रंग नहीं है। भूगोल के कुछ खण्ड प्रकट रूप से अपनी भौगोलिक प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण एक विशेष जीवन-पद्धति विकसित कर लेते हैं। वहाँ के वासियों का चरित्र आसानी से मानव मात्र के सामान्य व्यवहार का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। उसे गढ़ने में अंचल विशेष की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। आँचलिक रचनाओं का यही विशेष लक्षण है कि घटनाक्रम और चरित्र-व्यवहार दोनों में अंचल बोलता है। सीमान्त-प्रदेश, समुद्र-तट, नदी-तट, जंगल, पहाड़, कुछ ऐसे ही भूखण्ड हैं जहाँ के वासियों के चरित्र और जीवन-पद्धति के निर्माण में उनके अंचल का हाथ होता है। ऐसी आँचलिक रचनाओं में आँचलिकता को वस्तु-सामग्री की जगह प्राप्त होती है। बलवन्त सिंह के 'काले कोस', 'दो अकालगढ़', 'रात, चांद और चोर' जैसे उपन्यासों में जैसे सीमान्त प्रदेश बोलता सुनाई देता है, वह आँचलिकता का उदाहरण है। इस प्रकार की आँचलिकता अप्रतिम और विशिष्ट होती है। उसके चरित्र और घटनाक्रम एक भूखण्ड से निकालकर दूसरे भूखण्ड में नहीं बसाए जा सकते।

आँचलिकता की दूसरी रंगत स्थानीयता है। इसका सृजन भाषा में स्थानीयता के आभास के सहारे एक निश्चित, परिभाषित ठोस परिवेश तथा निश्चित परिभाषित काल विशेष में किया जाता है। तीज-त्यौहार, पर्व-उत्सव, रहन-सहन के सूक्ष्म-निरीक्षण और बारीक निरूपण से उस ठोस परिवेश का साकार चित्र संभव होता है लेकिन स्थानीयता की परतों के नीचे एक सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक कथा को विशिष्ट तथा देशकालबद्ध बनाने की प्रक्रिया समाई होती है। इसे खाँटी अर्थों में आँचलिक तो नहीं कहा जा सकता लेकिन परिवेश की वास्तविकता और पात्रों की जीवन्तता की दृष्टि से स्थानीयता को आँचलिकता के स्तर तक पहुँचा हुआ अवश्य माना जा सकता है। सीधे शब्दों में कहें तो बलवन्त सिंह के पात्र और घटनाक्रम केवल सीमान्त पंजाब प्रदेश में संभव हैं, अतः आँचलिक हैं, लेकिन ‘तीसरी कसम’ का न केवल मेला, गाड़ीवान और नौटंकी की अभिनेत्री हिन्दीभाषी इलाके के किसी भी कोने में हो सकते हैं, बल्कि यह कथा भी हिन्दुस्तान भर के किसी भी कोने में, किसी भी भाषा में घटित हो सकती है लेकिन फणीश्वरनाथ रेणु हाट, बाट और घाट के पर्यवेक्षण से, लोक तत्व के सम्मिलन से, बारीक विवरणों की तहदारी से उसे ठेठ पूर्णिया जनपद के ग्राम-अंचल के ठोस परिवेश की कहानी बना देते हैं। स्थानीयता आँचलिकता का स्पर्श कर लेती है। फिर भी, रेणु का कथा-साहित्य हिन्दी में आँचलिक साहित्य का सूत्रपात माना जाता है और यह नामकरण भी संभवतः उनके उपन्यास ‘मैला आँचल’ के नाम पर हुआ है।

कथा-साहित्य के आँचलिक आन्दोलन के विषय में प्रसिद्ध आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी का कहना है कि “आँचलिकता का आन्दोलन स्वाधीनता प्राप्ति के कुछ वर्षों बाद ही आया। देश की प्रकृति का वर्णन और लोकसंस्कृति की चर्चा बहुत पहले से थी लेकिन लोकजीवन की मार्मिकता की तीव्रता का अनुभव साहित्य में तब आया जब लोक जीवन परिवर्तित होने लगा। इसके पहले मध्यकालीन अपरिवर्तनशील सामाजिक ढाँचे के कारण शाश्वत, सनातन की दीर्घजीवी धारणा हावी थी। स्वाधीनता के उपरान्त एक धक्के से सामन्तवादी व्यवस्था बदल कर पूँजीवादी व्यवस्था हो गयी है, आँचलिकता का गहरा सम्बन्ध व्यतीत या बीती हुई स्थितियों से है। शताब्दियों से एकरूप जीवन और चरित्र हमेशा के लिये समाप्त हो रहे हैं। उनकी विदाई बहुत भावभीनी है। आँचलिकता का साहित्यान्दोलन इस भावभीनी विदाई का साहित्य है। यह यथार्थ के ही एक पक्ष का उद्घाटन है, लेकिन इस बात का संकेत नहीं दिया गया है कि यह विदाई एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है। युगीन परिवर्तन के इस नाटक में वैचारिक पक्षधरता गायब है।... रेणु की शक्ति समस्या को पहचानने की नहीं, आँचलिक जीवन की माया की अनुभूति कराने में है।”

त्रिपाठी जी के इस वक्तव्य में वही मन्तव्य निहित है जो “स्वाधीनता की पूर्वसंध्या की विरासत में पूर्वोक्त न्यूनतम साझा कार्यक्रम” की बात कहता है और ‘वैचारिक पक्षधरता’ को एक निश्चित दायरे में बाँधता है। रेणु में एक राजनीतिक सजगता भी है, वैचारिक पक्षधरता भी और सक्रिय भागीदारी भी लेकिन जैसा कि विजयदेवनारायण साही के पूर्वोक्त उद्धरण में कहा गया है, “विराट मानव को अगणित दृष्टियों से मापने वाला विविध रूपों में प्रस्फुटित होने वाला स्थायी साहित्य दो चार ऐसे विषयों में सीमित नहीं हो सकता जो किसी मीटिंग में प्रस्तावों द्वारा मंजूर कर लिये गये हो।”

औद्योगीकरण के पहले के समाज का जन ‘लोकजीवन’ का वाहक होता है। उसके पास एक सांस्कृतिक चेतना और उससे अनुप्राणित जीवन-पद्धति होती है। औद्योगीकरण इस जन को ‘लोक’ से हटाकर ‘भीड़’ में बदलता है। सांस्कृतिक जीवन-पद्धति को यांत्रिक जीवन-पद्धति बना देता है। जन केवल जनता - स्वयं अपनी भाववाचक संज्ञा, अपना

अमूर्तन बनकर रह जाता है। 'लोक जीवन' का 'भीड़ जीवन' में बदलना लोक को लुप्त करके बहुसंख्या बना देना है। लोकविरोधी तथाकथित 'विकास' की यात्रा में इसे एक अनिवार्यता मान कर स्वीकार कर लेने का अर्थ शोषण को विकास का पर्याय मान कर निर्विरोध रह जाना है। 'लोक' के अनुकूल जो किया जाय वह 'विकास' होता है, अगर विकास का एक ढाँचा पहले से तय कर लिया जाए और 'लोक' को उस ढाँचे के अनुरूप मोड़ने का हठ ठान लिया जो वह विकास नहीं, विनाश होता है। 'रेणु' उस लोकजीवन के चितरे हैं और जिस गहरी ममता के साथ उन्होंने ये चित्र खींचे हैं उसमें उनकी पक्षधरता और इस लोकविरोधी तथाकथित विकास के साथ असहमति निहित है। उनका कोई भी पात्र मात्र एक अमूर्त प्रातिनिधिक अमूर्तन बन कर नहीं रह जाता तथा प्रत्येक पात्र एक व्यक्ति के रूप में विशिष्ट और साकार बना कर विकसित किया जाता है। यह उनकी दुर्बलता नहीं, विशिष्टता है।

1.3 फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियाँ और नयी कहानी

फणीश्वरनाथ रेणु का जन्म 4 मार्च 1921 में बिहार के जिला पूर्णिया के, गाँव ओराहीं हिंगना में हुआ था। वे सक्रिय सामाजिक राजनीतिक सरोकार रकने वाले नागरिक और देशभक्त थे। 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में उन्होंने सक्रिय भागीदारी की थी। यह भागीदारी केवल अपने देश तक ही सीमित नहीं रही। भारत के स्वाधीन हो जाने के बाद 1950 में पड़ोसी देश नेपाल में राजशाही दमन के विरुद्ध जनता की सशस्त्र क्रान्ति व राजनीति में भी वे सक्रिय रूप से शामिल हुए। अन्याय और उत्पीड़न उनके लिये असहनीय था लेकिन 1952-53 के दौरान गंभीर लम्बी बीमारी के कारण उन्हें सक्रिय राजनीति से विराम लेना पड़ा। साहित्य-सृजन के माध्यम से वे दमन और शोषण के विरुद्ध आजीवन संघर्षरत रहे। 1954 में मैला आँचल के प्रकाशन से वे रातोंरात विख्यात लेखक बने और शीर्षस्थ लेखक की प्रतिष्ठा प्राप्त की। 1975 में आपातकाल के विरुद्ध जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन में भागीदारी के द्वारा राजनीति में पुनः प्रवेश किया। पद्मश्री की मानद उपाधि लौटा दी, पुलिस यातना सही और जेल गये। 23 मार्च को आपात कालीन स्थिति हटी लेकिन तब तक दुर्बल स्वास्थ्य और भी जर्जर हो चुका था। 11 अप्रैल 1977 में देहान्त हुआ।

आयु और रचनाकाल की दृष्टि से रेणु को एक ओर प्रेमचंद के बाद की पीढ़ी के जैनंद्र, अज्ञेय, यशपाल तथा दूसरी ओर नयी कहानी आंदोलन की जन्मदात्री स्वातंत्र्योत्तर कथा-पीढ़ी के बीच में रखा जा सकता है। इसीलिए वे दोनों जगह उनकी समवयस्कता कभी अज्ञेय, यशपाल के साथ, तो कभी नयी कहानी के कथाकारों के साथ घोषित की जाती रही है।

उन्होंने गद्य की अनेक विधाओं में काम किया और सभी को अपनी प्रतिभा संस्पर्श से विशिष्ट बनाया। मैला आँचल, परती परिकथा, दीर्घतपा, कलंकमुक्ति, जुलस, पलटू बाबू रोड (मरणोपरान्त) उनके उपन्यास हैं। तुमरी, अगिनखोर, आदिम रात्रि की महक, एक श्रावणी दोपहरी की धूप, तथा अच्छे आदमी उनके कहानी संग्रह हैं जो बाद में सम्पूर्ण कहानियाँ नाम से भी एकत्र संकलित हुए। 'ऋणजल-धनजल', 'वनतुलसी की गन्ध', 'श्रुतपूर्व अश्रुतपूर्व', 'समय की शिला पर' उनके द्वारा रचित अन्य गद्यरूपों के संकलन हैं जिनमें संस्मरण रेखाचित्र, रिपोर्टाज की विधाएँ हैं। दिनमान में प्रकाशित नेपाली क्रान्तिकथा रिपोर्टाज का उत्तम उदाहरण है।

उन्होंने अपने कथा साहित्य में गाँव के समृद्ध सांस्कृतिक परिवेश की जीवन्त तस्वीरें खींची हैं लेकिन उस जीवन्तता के आवरण में अंचल के पिछड़ेपन को कहीं भी ढका नहीं है।

ग्रामीण समाज में भी हाशिये पर जीने वाले पात्रों ने उनकी विशेष ममता पाई है। खेतिहर मज़दूर, ग़रीब किसान, लोक कलाकार और कारीगरों के जीवन की भावप्रवणता, संवेदनशीलता, सर्जनात्मकता, सांस्कृतिक निष्ठा और स्वाभिमान के चित्रण के साथ साथ वे अपने चुने हुए अंचल के अभावों, अन्धविश्वासों, रुग्णताओं से ग्रस्त जीवन को भी अपने ध्यान का विषय बनाते हैं। छोटी छोटी ईर्ष्याएँ, स्पर्द्धाएँ, लागडॉट और मनमुटाव आदि के निरीक्षण से वे मानसिकता का सूक्ष्म और स्वाभाविक अंकन करते हैं। प्रेम की संवेदना का सहृदय चित्रण उनकी अनेक कहानियों में हुआ है जिनमें ‘रसपिरिया’ और ‘तीसरी कसम’ विशेष यश में भीगी हुई हैं। ‘पंचलैट’ की विषय-वस्तु गाँव की एक अवर्ण जात पंचायत में पेट्रोमैक्स के रूप में ‘कलकब्जे वाली चीज़’ का आगमन है अर्थात् प्रतीकात्मक अर्थ में सरलतम स्तर पर औद्योगीकरण और यंत्रयुग। पर इतने से ही कुछ रुढ़ियाँ टूटती दिखाई देती हैं। प्रेम की ओर भी तिर्यक् ढंग से किंचित विनोद के स्वर में एक अलग स्वाद के साथ मौजदू है।

‘संवदिया’ नामक कहानी में ग्रामीण आबादी के लिये रोज़ी रोटी के सवाल पर नगर-पलायन और विस्थापन की मज़बूरी का चित्रण पीड़ा के साथ किया गया है। कथानक में संवाद-वाहक के समाप्तप्राय व्यवसाय के अलावा अकेली विधवा स्त्री की कहानी कही गयी है। जो शहर-पलायन द्वारा पारिवारिक विघटन के कारण गाँव में अकेली रह गयी है और खेतीबाड़ी सँभालने में असमर्थ है। रेणु मानो स्वयं इस कहानी के पात्र हरगोबिन संवदिया की भूमिका अपना कर तरह तरह के अपने अंचल के दुखी-विपन्न बेसहारा पात्रों का संवाद पाठकों तक पहुँचाते हैं।

सांस्कृतिक समृद्धि के उल्लसित समारोह के अलावा उनकी कहानियाँ स्वाधीनता प्राप्ति और गणतंत्र की स्थापना के बाद के दशक में ग्रामीण चेतना और परिस्थितियों के परिवर्तनों का चित्र भी खींचती हैं। राजनीतिक सजगता और संघर्ष का स्वर भी इनमें विद्यमान है। ‘तंबे एकला चॅलो रे’ शीर्षक कहानी में बँटाईदार-जमींदार संघर्ष का कथानक है। छोटे किसानों, जमीन्दारों और सरकार की सम्मिलित शक्ति के आगे बँटाईदारों को हार का मुख देखना पड़ता है। बँटाईदारों का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण हुआ है। ‘आत्मसाक्षी’ नामक कहानी में चुनावी राजनीति का चित्रण है जिसके कारण दल में आन्तरिक विघटन होता है, जनता ध्यान के बाहर हो जाती है और कुर्सी केन्द्र में आ जाती है। ग्रामीण युवकों में राजनीतिक चेतना की सुगबुगाहट नेताओं के वर्गस्वार्थ द्वारा भटकाव का शिकार होती है। समाजवादी दल की आन्तरिक टूट फूट का चित्र खींचते हुए भी आशावादी स्वर शेष प्रतीत होता है। लेकिन ‘संकट’ शीर्षक की कहानी में राजनीतिक भ्रष्टाचार अपने कुत्सित रूप में दिखाई देता है और राजनीति से कोई उम्मीद बाकी नहीं रहती।

शहरी संवेदना की भी कुछ कहानियाँ उन्होंने लिखीं लेकिन यहाँ उनका अपना इलाका नहीं है। ‘टेबिल’, ‘कस्बे की लड़की’, ‘ना जाने केहि वेश में’ इत्यादि कहानियों में वह रचाव और गहराई अनुपस्थित है।

रेणु का महत्व, देर से ही सही, सभी ने स्वीकार किया। अज्ञेय ने उन्हें ‘धरती का धनी’ कहा है।

डॉ. शिवकुमार मिश्र ने ‘प्रेमचंद की परंपरा और फणीश्वरनाथ रेणु’ शीर्षक निबन्ध में रेणु को एक लंबे अर्से के बाद प्रेमचंद की उस परंपरा से कहानी को फिर से जोड़ने का श्रेय दिया जो बीच में मध्यवर्गीय नागरिक जीवन की केंद्रीयता के कारण भारत की आत्मा से कट गयी थी।

निर्मल वर्मा ने कहा है कि “बिहार के छोटे भूखंड की हथेली पर उन्होंने (रेणु ने) समूचे उत्तरी भारत के किसान की नियति रेखा को उजागर किया।” रेणु का महत्व सिर्फ आँचलिकता में नहीं, अपितु उनके अतिक्रमण में है।

विश्वनाथ त्रिपाठी ने ‘तीसरी कसम’ के सन्दर्भ में कहा है कि ‘कहानी मानो उपन्यास होना चाहती है।’ रेणु की अधिकांश कहानियों की संरचना ऐसी ही है। अभी हाल में ‘लम्बी कहानी’ अथवा ‘नॉवेल्ला’ का जो कथारूप उभर कर सामने आ रहा है, जो जटिल से जटिलतर होते हुए यथार्थ के सिलसिले में कहानी को पर्याप्त बनाने का उपक्रम कहा जा सकता है, रेणु की कहानियाँ पचास वर्ष पहले ही उसका सूत्रपात कर चुकी थीं। कई कथासूत्रों को मूलकथा के साथ गुंथ कर उनके कथानक रचे जाते हैं, वे केवल मुख्यकथा के पात्रों तक सीमित इकहरी कहानी नहीं सुनाते बल्कि उन्हें एक पूरे परिदृश्य में रख कर समाज तक प्रसारित कर देते हैं। कहानियाँ किसी आइडिया या विचार या आदर्श को केन्द्र में रखकर नहीं बुनी गई हैं, अपितु जीवन के अनुभव में सीधे उतरती हैं और उस अनुभव को बहुत बारीक विवरणों के सहारे जीवन्त करती हैं। इसलिए इन कहानियों से सरलीकृत रूप में निष्कर्ष निकालना जरा कठिन है।

रेणु की कथा-भाषा लोकभाषा की नींव पर खड़ी की गयी है। वह लोकभाषा तथा नागरभाषा के बीच उस ठीक, सही सन्तुलन से रची गयी है कि न तो लोकभाषा के अतिशय से अबूझ होने पाती है न नागर भाषा के अतिशय से लोकजीवन का खँटी स्वाद होती है। उसमें अपनी भीतरी लय है, प्रवाह है, गद्य होते हुए भी एक भीतरी संगीत है, नाद और ध्वनि का यथावसर ऐसा संयोजन है जो उसे सार्थक भाषा के इलाके में खींच लाता है।

रेणु ग्रंथावली के सम्पादक भारत यायावर के अत्यन्त सटीक मन्व्य के अनुसार वे प्रेमचंद द्वारा निर्मित कथा-भूमि को ग्रहण करते हैं, उसे सांस्कृतिक गरिमा से मंडित करते हैं, शिल्प में नवीनता और आधुनिकता का योग देते हैं और ताराशंकर की तरह स्थानीय रंग को विभूषित करते हैं। इसीलिए प्रेमचंद के द्वारा रेश-रेशे में उकेरा गया भारतीय ग्राम-समाज ही रेणु की कलम से इतना रससिक्त, प्राणवंत और नये आयाम ग्रहण करता हुआ दिखाई पड़ता है।

1.4 तीसरी कसम : पाठ-बोध और प्रक्रिया

शीर्षक का अर्थ-संकेत

लोक-मन और लोक-जीवन में कसम या सौगन्ध या शपथ लेने या खाने का अर्थ अपने आप से या किसी दूसरे से एक वादा है जिसे अपने आचरण में उतार कर प्राण-पण से निभाया जाता है। कसम खाने का अर्थ अपने लिये आचरण की एक मर्यादा निश्चित करना है जिसका उल्लंघन स्वयं के लिए निषिद्ध है। कसम खाकर कुछ कहने का अर्थ सच बोलने का प्रमाण है। कसम तोड़ना या झूठी कसम खाना पाप के बराबर है। कसम उस जगत के आचार-व्यवहार का मूल्य है जो आस्था और विश्वास पर, कथनी और करनी की एकरूपता एवं अपने और दूसरों के प्रति ईमानदारी पर टिका है। ‘तीसरी कसम’ के गाड़ीवान नायक हिरामन ने पहले भी दो कसमें खाई थीं, लेकिन कहानी ‘तीसरी कसम’ के बारे में है। इसका मतलब यह नहीं कि कहानी में पहली दो कसमों का होना महज कहानी के शीर्षक को एक नाटकीय सार्थकता देने के लिये है, बल्कि कहानी के

पूर्वरंग में अतीत-अवलोकन द्वारा किंचित विस्तार से उन दोनों कसमों का जिक्र भी है और एक कथात्मक औचित्य भी। कहानी में उनका जिक्र हिरामन के जीवन के विशेष क्षणों को एकसूत्र में पिरोता है और उसके चरित्र और आचरण की कुंजी देकर उसकी जीवन-पद्धति को सामान्य प्रवाह-धारा में डालता है।

पिछली दोनों कसमें-नैतिक निर्णय

दोनों कसमें उसने थोड़े संगीन अनुभवों से गुजर कर निष्कर्ष की तरह पाई है और जीवन-यापन को नियंत्रित करने वाले निर्णय और संकल्प की तरह धारण की हैं। पहली - चोरबाजारी का माल नहीं लादेंगे, दूसरी - बाँस लादने के लिये हिरामन की गाड़ी नहीं मिलेगी। चोरबाजारी की लदनी पर पुलिस का छापा पड़ा था और वह अपनी सगगाड़-गाड़ी वहीं छोड़कर जैसे-तैसे दोनो बैल और प्राण बचा कर भागा था। रातभर दम साधकर दौड़ते हुए, घर पहुँचकर दो दिन तक बेसुध पड़ा रहा था। उसके बाद बरसों तक उसने आधेदारी पर बैलों को जोता। आधा भाडा गाड़ीवाले का, आधा बैल वाले का। गाड़ीवानी मुफ्त। इतने में बैलों का ही पेट नहीं भरता। तंगी और तकलीफ़ के बरसों बाद पिछले साल ही उसने नयी गाड़ी बनवाई है और इसकी सामर्थ्य जुटाने के लिये बैलों को सर्कस कम्पनी की बाघगाड़ी में जोतने का पराक्रम किया है।

बाँस की लदनी के बारे में कहानी का ब्यौरा यँ है- “गाड़ी के चार हाथ आगे बाँस का अगुआ निकला रहता है और पीछे की ओर चार हाथ पिछुआ। काबू के बाहर रहती है गाड़ी हमेशा। सो बेकाबू लदनी...!” इस विवरण में रेखांकित करने लायक बात बेकाबू लदनी के कारण गाड़ी का काबू के बाहर रहना है। बाँस न लादने का सबक भी उसने घोड़ागाड़ी की छतरी में बाँस का अगुआ फँस जाने पर घोड़ागाड़ी से तड़ातड़ चाबुक और गाली खाकर यानी फिर एक संगीन अनुभव से गुजर कर सीखा है। जीवन की गाड़ी खींचने के लिये दोनो कसमें यानी संकल्प उसके लिये नैतिक निर्णय का दर्जा रखते हैं, चोरी-चकारी के माल से तोबा और बेकाबू गाड़ी-असन्तुलन-से परहेज। लेखक के कौशल से हिरामन के ये दोनों निर्णय हिरामन की अपनी भाषा में संपन्न होते हैं और गाड़ीवान हिरामन का जीवन शब्दशः उसके बैल और गाड़ी ही है।

हिरामन की पहली दोनों कसमें कथानक में एक प्रयोजन द्वारा सार्थकतापूर्वक पिरोई गयीं हैं लेकिन पृष्ठभूमि की तरह रखी गयी है। कहानी ‘तीसरी-कसम’ के बारे में ही है।

कम्पनी और कम्पनी की औरत - कहानी का ताना-बाना

‘तीसरी कसम’ के शीर्षक और कथावस्तु की पृष्ठभूमि में ये दोनो कसमें हैं और मानों एक बार फिर, एक और संगीन किस्म के अनुभव में अपना कायाकल्प करके एक नये सबक में, एक नयी कसम में ढलने वाली हैं। एक तरह से हिरामन एक ‘अकेली’ जनानी सवारी-हीराबाई-के रूप में चोरी-चकारी का माल और बाँस की लदनी दोनो की ढुलाई कर रहा है। गाड़ी में बिठाने के पहले काली ओढ़नी में लिपटी हीराबाई को देखकर उसके मन में खटका लगा था, उसने पूछा भी था, “क्यों भैया, कोई चोरी-चकारी का माल-वाल तो नहीं?” कहानी में स्वाभाविकता की नजर से पहली कसम के चीज तो नहीं, लेकिन हीराबाई-प्रसंग में भाईदार कोई जवाब नहीं देता, हाथ के इशारे से गाड़ी हाँकने को कह कर रहस्यमय ढंग से अँधेरे में गायब हो जाता है। लगातार सात साल तक मेलों की लदनी लादने वाला हिरामन नहीं जानता कि हीराबाई मथुरामोहन नौटंकी कम्पनी में लैला की भूमिका निभाने वाली अभिनेत्री है और एक मेला उठने के ठीक पन्द्रह दिन पहले रातो-रात चोरी-छिपे निकलकर दूसरे मेले की रौता नौटंकी कम्पनी में शामिल होने जा रही है। एक तरह से वह एक कम्पनी से दूसरी कम्पनी को जाता/ले जाया जाता चोरी-चकारी

का ही माल है। और प्रकारान्तर से वह बाँस की लदनी - जीवन-गाड़ी को काबू के बाहर/असन्तुलित कर देने वाली-भी कही जा सकती हैं। यह अलग बात है कि दूसरा मेला भी उठने के पहले ही वह मथुरामोहन नौटंकी की कम्पनी में वापस लौट जाएगी। शायद कम्पनी और कम्पनी की औरत के बीच यह मथुरामोहन कम्पनी को अपनी कीमत जताने का, मोल-तोल और भाव बढ़ाने का मामला है।

कहानी की इबारत में ही ये ब्यौरे कहीं दर्ज, कहीं संकेतित या व्यंजित हैं लेकिन सायास लापरवाही से इधर उधर, एक दूसरे से दूर-दूर यूँ सूचनाओं की तरह पिरोये गये हैं और समक्ष घटित होते जीवन्त ऐन्द्रिय संवेद्यों के समृद्ध भार से इस तरह आच्छादित किए गये हैं कि ठीक सामने मौजूद होने के बावजूद कथ्य की संरचना में उनकी भूमिका उजागर नहीं होने पाती, विचार अनुभव की तह में ही समाया जाता है, चौखटा नहीं बनने पाता। “दि रौता नौटंकी संगीत कम्पनी के स्टेज पर...मथुरामोहन कम्पनी की मशहूर ऐक्ट्रेस मिस हीरादेवी, जिसकी एक एक अदा पर हजार जान फ़िदा हैं, इस बार कम्पनी में आ गयी हैं...।” कहानी में हीराबाई को नौटंकीवाली नहीं, कई बार अलग अलग प्रसंगों में ‘कम्पनी की औरत’ ही कहा गया है। कम्पनी है तो नौटंकी की ही लेकिन ‘कम्पनी’ कहने में वाणिज्य-व्यापार का स्वर कुछ अतिरिक्त प्रखर हो उठता है।

दो प्रतियोगी कम्पनियाँ, एक कलाकार और एक (संभवतः) उसका एजेण्ट जो पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर के अन्दाज में नौकर की तरह बक्सा दुलाई से लेकर उसे रौता कम्पनी पहुँचाने और अन्त में रेल पर चढ़ाते समय कोट-पतलूनधारी मालिकों की तरह हुक्म देने वाले बाबूसाहब तक का काम करता है - इनके बीच फैले ताने-बाने में हीरामन के कदम बिल्कुल अनजान, अनायास आ पड़ते/फँसते हैं। हीराबाई एक मेले से दूसरे मेले तक लगभग चौबीस घण्टों की यात्रा उसकी बैलगाड़ी में तय करती है। सख्य और संगीत के संसार में कुल चौबीस घण्टे। इन चौबीस घण्टों में हीरामन के साथ जो एकैकिक सम्बन्ध-भाव का अनुभव घटित होता है उसकी वजह से सात साल तक लगातार मेलों की लदनी लादने के बावजूद कभी नौटंकी, थियेटर या बायस्कोप-सिनेमा न देखने वाले, हीराबाई या लैला का नाम तक न सुने हुए हीरामन का प्रवेश मेले में नौटंकी के कपड़घर-संसार में हीराबाई के लिये एक अभिभावक/संरक्षक, खास अपने आदमी के भाव से होता है। हीरामन के लिये यह सारा एक रहस्यमय संसार है जहाँ पहुँचकर वह अपने ही विस्मय और रहस्य के भावलोक में उलझता, फँसता और उपशीर्षक ‘मारे गये गुलफ़ाम’ की तर्ज पर मारा जाता है।

मेले में पहुँचने के बाद कहानी के दो घटनास्थल हैं। एक गाड़ीवानों का बासा, दूसरा कपड़घर जहाँ नौटंकी का मंच और सभागार है। दोनों एक दूसरे से अलग दो संसार हैं। धुन्नीराम से कहानी में कहलवाया भी है, “गाड़ी बैल छोड़कर नौटंकी कैसे देख सकता है कोई गाड़ीवान मेले में?” लेकिन फिर भी हीराबाई के आकर्षण की डोर से खिँचे हुए गाड़ीवानों का प्रवेश हीराबाई के दिलवाए हुए और हीरामन के सौजन्य से मिले हुए ‘पास’ की प्रतिष्ठा और उसकी वजह से अपनी विशिष्टता का प्रदर्शन गाड़ीवान लोग बार बार तरह तरह से जताते हैं। उसी अनुकम्पा के लिये कृतज्ञता से वे हीरामन की अगुआई में, हीराबाई के सम्मान की रक्षा के लिए, लटपट बोल बोलने वालों के साथ मारपीट भी करते हैं। इस घटना में जो खबरनुमा अफ़वाह उड़ती है वह है तो अफ़वाह लेकिन व्यवसाय जगत की आपसी प्रतियोगिताओं के गलाकाट पक्ष की ओर इशारा करती है। मामले को थामते-सम्हालते हुए मैनेजर दारोगा से कहता है,... हीराबाई के आदमी हैं, बेचारी की जान खतरे में हैं...। और दूसरे दिन मेले भर में यह बात फैल गयी-“मथुरामोहन कम्पनी से भागकर आई है हीराबाई, इसलिए इसबार मथुरामोहन कम्पनी नहीं आई है...उसके गुण्डे आए हैं।...हीराबाई भी कम नहीं। बड़ी खेलाड़ औरत हैं। तेरह तेरह लठैत पाल रही है..‘वाह मेरी जान’ भी कहे तो कोई! मजाल है!”

संभावना यह है कि इस इकाई को पढ़ने के पहले से ही आप ‘तीसरी कसम’ शीर्षक कहानी से परिचित हैं और शायद उसे पढ़े बिना ही पढ़ा हुआ या महसूस करते हैं क्योंकि इस कहानी पर आधारित फ़िल्म को आपने देखा या उसके बारे में सुना होगा। लेकिन फिर भी आपसे आग्रह है कि कहानी को पढ़ना जरूरी है क्योंकि ‘तीसरी कसम’ की कहानी को फ़िल्म की कहानी बनाते हुए माध्यम की जरूरत के हिसाब से विकसित और परिवर्द्धित और संशोधित किया गया है। ये परिवर्द्धन और संशोधन उसे एक प्रेमकहानी बनाने के लिए साभिप्राय किये गये हैं। इस क्रम में दोनों रचनाएँ उन्हीं पात्रों के, लगभग उसी घटनाक्रम से गुजरते हुए जीवन की कहानी होते हुए भी मूल संवेदना की दृष्टि से एक दूसरे से स्वतंत्र रचनाएँ हो गयी हैं।

शायद फिल्म के प्रभाव से या फिर स्त्री-पुरुष से सम्बद्ध कथायोग्य विषयवस्तु में प्रेम को अनिवार्यतः मौजूद देखने के पाठकीय अभ्यास के कारण ‘तीसरी कसम’ का पाठ एक प्रेम कहानी के तौर पर होता आया है। इच्छित पाठ को सिद्ध करने लायक संकेत कहानी में खोजे भी जा सकते हैं क्योंकि, अन्ततः कहानी का अभिप्राय वही होता है जो पाठक द्वारा पढ़ा जाता है। लेकिन कई बार उस अभीष्ट अर्थ में कहानी की पूरी संरचना समाती नहीं, बहुत सी बातें फालतू और भरती की मानकर रफ़ादफ़ा करनी पड़ती हैं। प्रेमकथा की तरह ‘तीसरी कसम’ को पढ़ते हुए समीक्षित करते हुए आलोचकप्रवर विश्वनाथ त्रिपाठी को भी कहना पड़ता है, “.....कहानी में जहाँ बक्सा ढोने वाला आदमी दुबारा आता है और हिरामन को लगता है कि किसी ने उसे आसमान से धकेलकर नीचे गिरा दिया है, वहाँ से कोई वस्तुगत विकास नहीं होता। हिरामन और हीराबाई के सम्बन्धों में कोई नयापन नहीं जुड़ता। वे कहानी के अन्त तक घिसटते रहते हैं....हिरामन और हीराबाई के सम्बन्धों का द्वंद्वात्मक विकास यहाँ चुक जाता है।”....अंततः नौटंकी और मेले का विवरण कहानी का विकास नहीं, खींचतान है।”

विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपनी गहन पढन्त में ‘तीसरी कसम’ को “स्वप्न और यथार्थ का संश्लेष” कहा है - ‘तीसरी कसम’ के स्वप्न की विशेषता यह है कि वह कल्पना नहीं, जो कुछ घट रहा है, हो रहा है, वही स्वप्न बन गया है। बैलगाड़ी की यात्रा स्वप्न है - हीराबाई और हिरामन के इस यात्रा के पूर्व और उपरान्त के अनात्मीय जीवन के सन्दर्भ में। जीवन का ही एक अंश जीवन के स्वप्न की तरह घटित हुआ है। “कहानी की संरचना के सन्दर्भ में यह एक मूल्यवान सूत्र है लेकिन वे अपनी बारीकबीन नजर के बावजूद कथानक को सम्पूर्णतः प्रेमकहानी में सीमित मान लेते हैं और कहानी के उत्तरार्ध को हीराबाई के चरित्र-विकास में असमर्थ और अनुपयुक्त करार देकर कथ्य के बहुत से हिस्से को खींचतान, फालतू और अप्रासंगिक मानकर छोड़ देते हैं”।

कहानी के मूल्यांकन में वे कहते हैं - “बात यह है कि रेणु को आर्थिक विषमता की पीड़ा से उतना सरोकार नहीं है जितना लोकजीवन की सांस्कृतिक समृद्धि से। वे आर्थिक विषमता को बहुत कम महत्व देकर सांस्कृतिक संपन्नता के चित्रण को भी अपर्याप्त बना देते हैं।” रेणु को इतना श्रेय तो वे अवश्य देते हैं कि वे “सहज पर्यवेक्षण के बूते उस यांत्रिकता से बच जाते हैं जो आधार और बाह्य ढाँचे में संगति या एकरूपता देखती है” लेकिन यह आरोप भी लगाते हैं कि “आधारगत अन्तर्विरोध के चित्रण का अभाव उनकी कहानियों में वह अर्थगत व्याप्ति नहीं आने देता। पात्र निम्नवर्ग के और अवर्ण हों किन्तु घटनाएँ आर्थिक अन्तर्विरोध से रहित हों तो सांस्कृतिक समृद्धि दर्शाने वाली घटनाएँ वह व्याप्ति नहीं प्राप्त कर सकतीं जो मानवीय सत्य तक पहुँच जाएँ। मानवीय सत्य की निर्मिति युग के सर्वाधिक दाहक सत्य को उपेक्षित करके नहीं हो सकती....।”

विश्वनाथ त्रिपाठी की यह दृष्टि वामपंथी आलोचना के पूर्वप्रतिष्ठित क्लासिकी मॉडल का श्रेष्ठ उदाहरण है जिसके अनुसार नायक या प्रवक्ता पात्र कहानी में विचारधारात्मक चेतना का मुखर वाहक होता है और अपने आचरण से उसको प्रमाणित भी करता है। ऐसी दृष्टि के लिये कहानी का गन्तव्य पहले से निश्चित हुआ करता है और उससे कोई भी विचलन दृष्टि की चूक साबित किया जा सकता है। 'तीसरी कसम' में हिरामन के चरित्र में भी उनको यही चूक दिखाई देती है - "हिरामन इस भावभूमि पर अपनी सहज ग्रामीणता के कारण पहुँचता है, किसी विचारधारात्मक चेतना के कारण नहीं। इसीलिये वह स्थितियों को केवल स्वीकार कर सकता है, उनके विरोध का उपाय नहीं जानता। हिरामन बैलगाड़ी से केवल वापस गाँव लौट सकता है।"

'तीसरी कसम' की यह भी एक पढ़न्त है लेकिन कोई भी पढ़न्त अन्तिम पढ़न्त नहीं होती। सामाजिक-आर्थिक यथार्थ और उसके साहित्यिक उत्पादन के सम्बन्धों की प्रक्रिया बहुत पेचीदा होती है। कहानी का कथ्य केवल अपने प्रमुख या प्रवक्ता पात्र के क्रिया-कलाप तक सीमित नहीं हुआ करता। कथ्य और चरित्र अभिन्न नहीं होते। कथ्य कहानी के समूचे रूपबन्ध के तन्तुओं में समाकर उनकी परस्पर प्रतिक्रियाओं से व्यंजित होता है। 'तीसरी कसम' के सन्दर्भ में यही सच है।

अलग-अलग संसारों की सीमाओं का परस्पर उल्लंघन

पहले बताया जा चुका है कि मेले में कहानी के दो घटनास्थल वस्तुतः दो अलग-अलग संसार हैं। कहानी इन दो संसारों के परस्पर टकरा जाने की कहानी है।

मेले में पहुँच कर साथी गाड़ीवानों को हिरामन जैसे ही बताता है कि उसकी गाड़ी में 'कंपनी की औरत' है वैसे ही सब अचरज में एक दूसरे को देख कर एकसाथ 'सटकदम' हो जाते हैं। हिरामन देखता है, कंपनी के नाम में कितना असर है।

इसके बाद पूरे दिन तक नौटंकी के मायालोक और कम्पनी की औरत के जादू में फँसा, डूबता-उतराता अकेला हिरामन नहीं, उसकी समूची मित्रमण्डली है - एक नहीं चार हिरामन! लालमोहर, धुन्नीराम, पलटदास और खुद हिरामन। पाँचवाँ लालमोहर का सेवक - लहसनवाँ। तीनों चारों का अनुभव इस एक बात में अवश्य समान है कि उनमें से कोई भी अपने नौटंकी देखने की खबर को गाँव-घर तक नहीं पहुँचने देना चाहता, इसके लिये सब मिलकर कसम भी खाते हैं, "पहले गुरुकसम खानी होगी सभी को, कि गाँव घर में यह बात एक पंछी भी जान नहीं पाएँ"। नौटंकी देखना उस दुनिया में एक दुष्कर्म अतः वर्जित है लेकिन इस एक समानता के अलावा तीनों चारों के लिये नौटंकी देखने का अनुभव अलग अलग तरह से दर्ज किया गया है। हिरामन को लगता था, 'हीराबाई शुरू से ही उसकी ओर टकटकी लगाकर देख रही है, गा रही है, नाच रही है।' बैलगाड़ी की यात्रा में चौबीस घण्टे के सान्निध्य में विकसित एकैकिक-सम्बन्ध-भाव इस 'लगने' में ध्वनित होता है। लालमोहर को भी लगता यही है कि हीराबाई उसी की ओर देखती है लेकिन इसका कारण यह प्रतीत होता है कि हीराबाई समझ गयी है कि हिरामन से भी ज्यादा पॉवर वाला आदमी है लालमोहर। इस 'लगने' में हिरामन के साथ लागडॉट और ईर्ष्या की व्यंजना है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण है पलटदास का 'किस्सा समझना', उसकी प्रतिक्रिया में लोकमानस की यथार्थ के रूपान्तरण और मिथक-निर्माण की क्षमता बोलती है। मिथक की भाषा में अपरिचित यथार्थ का संयोजन मानो अनजाने को जाने-पहचाने में बदल कर काबू में लाने की प्रक्रिया है। उसे लगता है कि किस्सा और क्या होगा, रमैन की ही बात, वही राम, वही सीता, वही लखन लला और रावन।' हीराबाई का उसने सिया-सुकुमारी में कायाकल्प कर लिया है और नौटंकी-नायिका गुलबदन को यही पहचान दे

दी है। धुन्नीराम को तेज बुखार आ गया है, शायद उत्तेजना और आवेश या फिर अकरणीय को कर बैठने के अपराधभाव के कारण। लहसनवाँ ने जोकर को पसन्द किया है, और अन्ततः वह लालमोहर की नौकरी छोड़ कर नौटंकी-कम्पनी में पानी भरने कपड़े धोने की नौकरी पकड़ लेता है। गाँव लौटने की उसकी कोई मंशा नहीं।

इन दस दिनों के ब्यौरों में कहानी बीच-बीच में हिरामन पर फोकस करने के बावजूद कमोबेश सामूहिक अनुभाव-योजना में विन्यस्त होती है। एक छोटे से अनुच्छेद में ग्राम्य लोकमानस की बौद्धिक-भावात्मक-सांस्कारिक बनावट और क्रिया-व्यवहार की अनेक छवियाँ समेट दी गयीं हैं। कहानी के रचनात्मक प्रयोजन का यह भी एक पक्ष है। शुरु में हिरामन अकेला है, फिर हीराबाई की एक मेले से दूसरे मेले तक की यात्रा में वे दो हैं और दोनों के बीच एकैकिक सम्बन्ध की अनेक अर्थछायाएँ-भैया, मीता, गुरु। फिर एक हिरामन अपनी मित्रमण्डली के रूप में अनेक हिरामन होकर अपने संसार का समूहवासी बनता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वे अपने स्वभाव और व्यक्तित्व में एक दूसरे से भिन्न नहीं रहते बल्कि यह है कि वे एक ही समुदाय के सदस्य हैं और एक परस्परता और सम्बन्ध की भावना से एक दूसरे के साथ जुड़े हैं, पेशे के नाते जीवन-पद्धति और आर्थिक स्थिति तथा “गाँवा-गरामिन” बिरादरी के नाते संस्कारों में समान हैं। तात्कालिक प्रसंग में हिरामन के साथ उनके तद्रूप हो जाने का कारण हीराबाई पर उन सबकी मुग्धता है। कहानी में उनकी उपस्थिति हिरामन और हीराबाई के अलावा एक आयाम जोड़ती है और उसे दो समानान्तर संसारों की कहानी बनाती है जिसमें वे एक दूसरे के दायरे काट कर एक दूसरे की चौहद्दी में प्रविष्ट होते हैं और एक टकराहट के बाद वापस अपनी अपनी पटरी पर लौट जाते हैं, एक हिरामन के सिवाय। जिस एकैकिक सम्बन्ध-भाव के अनुभव से वह हो गुजरा है उसकी वजह से यह उसके लिये यह तीसरी कसम खाने का वक्त है। कहानी अपनी मंशा को हिरामन की प्रतिक्रिया के माध्यम से व्यक्त करती है।

हिरामन की इच्छामूर्तियाँ

जैसा कहा, बैलगाड़ी यात्रा के चौबीस घण्टे हिरामन के लिये एकैकिक सम्बन्ध-भाव का अनुभव हैं। अर्थात् यह कोई वास्तविक सम्बन्ध भाव नहीं, चौबीस घण्टे की यात्रा के दौरान सान्निध्य में, शायद उसी की वजह से, गुजरा हुआ एक अनुभव है जिसका अर्थ हिरामन और हीराबाई के लिये अलग अलग है। सम्बन्ध (सम+बन्ध) में बन्धन दोतरफा होता है। हिरामन की प्रेमकथा उसकी एकतरफा भावना की अनिवेदित कथा है, उसका अपना मानसिक वितान है जिसके फैलाव में रेणु उसकी भावनाओं के जीवन्त लोकरंग की सघन ऐन्द्रिय-संवेद्य जादूनगरी बसाते हैं। स्त्री के संस्पर्श/सम्पर्क से अछूते चालीस वर्ष के हिरामन के लिये चौबीस घण्टे की यह यात्रा एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न की दुनिया है जिसके दौरान सिहरन-कम्पन के कगार पर टिकी हुई उसकी अतिशय जाग्रत संवेदनाएँ प्रतिक्षण उसके भीतर अपनी ही अपरिचित अनुभूतियों का रहस्यलोक खोलती रहती हैं। इस अजूबा अनुभव को वह उसी रहस्यमयी भाषा में महसूस भी करता है। कभी यह आशंका कि “कहीं डाकिनी पिशाचनी तो नहीं” कभी यह विस्मय कि “औरत है या चम्पा का फूल” या फिर यह अचम्भा “अरे बाप!ई तो परी है।” “सब कुछ रहस्यमय अजगुत अजगुत लगता है।” उसका मन “पल-पल में बदल रहा है।” कभी उसको लगता है उसकी गाड़ी पर देवकुल की औरत सवार है”, फिर “हिरामन ने देखा-भगवती मैया भोग लगा रही है।” इस अचम्भे में एक संभ्रम है, संभ्रम में एक फासला है। स्वयं हीराबाई ही परिचय के लेन-देन से इस फासले को पार करने का हौसला देती है। भैया कह कर नाम पूछती है और नाम जानने के बाद मीता कह कर पुकारने का फैसला सुनाती है। हमनाम दोस्त को मीता कहने का चलन है। अगले चौबीस घण्टों में यह फासला क्रमशः बन्धुता,

मैत्री और किस्से-कहानी, गीत-संगीत की साझेदारी से भर दिया जाता है। पूरी यात्रा का विस्तृत विवरण हिरामन को जो “लगा” और हिरामन ने जो “देखा” उसके बारीक ब्यौरों से रचा गया है, सिर्फ एक छोटे से हिस्से में यह जिक्र है कि हीराबाई ने परख लिया, हिरामन सचमुच हीरा है, परख लिया कि उसके जैसे निश्छल आदमी बहुत कम दिखते हैं। निश्छलता के ब्यौरे की तरह उसकी हँसी का चित्र खींचा गया है। ‘परख’ के साथ दिये गये ब्यौरे बताते हैं कि वह अपनी गाड़ी और अपने बैलों के सिवा दुनिया की किसी और बात में विशेष दिलचस्पी नहीं लेता, बचपन में ही गौने के पहले दुलहिन के मर जाने के बाद से अविवाहित है और पाँच सात साल की कुँआरी ब्याहने की अपेक्षा अविवाहित रहना ही उसे बेहतर लगता है। इसके अलावा “ब्याह करके गाड़ीवानी क्या करेगा कोई? और सबकुछ चाहे छूट जाए, गाड़ीवानी नहीं छोड़ सकता हिरामन।” दुनियादारी से अछूते यायावर जीवन में उसने हीराबाई का नाम भी इसके पहले नहीं सुना, नौटंकी कम्पनी की औरत को वह बाई जी नहीं समझता है। अपनी तरह से “होशियार” भी है, और सतर्क भी जो रास्ता चलते अन्य गाड़ीवानों को गन्तव्य के नाम पर अलग अलग गाँव बता कर चकमा देता हीराबाई को सबकी नजरों से बचाता निकालता ले जाता है और अपनी चतुराई पर खुद ही हँसता है। उसकी होशियारी, चतुराई और सतर्कता सब उसकी निश्छलता के ही नाम हैं।

हीराबाई के व्यवहार में एक संयत खुलापन है जो उसकी आत्मनिर्भरता की अभिव्यक्ति है। एक अपरिचित गाड़ीवान तक सहज आत्मीयता का प्रसार करने में भी उसका आत्मविश्वास बोलता है। उसके जैसी कोई स्त्री हिरामन ने इसके पहले नहीं देखी है। मेले में पहुँच कर मित्र-मण्डली को उसका परिचय भी एकाधिक बार इसी तरह देता है - “...भाई रे, यह हम लोगों के मुलुक की जनाना नहीं है कि लटपट बोली सुनकर चुट रह जाए। एक तो पश्चिम की औरत, तिस पर कम्पनी की।” इस परिचय में अन्य गाड़ीवानों को हीराबाई से दूर रखने की, निकटता में साझेदारी का मौका न देने की उसकी अपनी मंशा भी शामिल है लेकिन हीराबाई के व्यक्तित्व का उद्घाटन भी है।

कम्पनी की औरत की एक और छवि उसके मन में है। चंपानगर के मेले में पिछली बार उसने सर्कस कम्पनी की बाघगाड़ी ढोई थी, सरकस कम्पनी की मालकिन अपनी दोनों जवान बेटियों के साथ बाघगाड़ी के पास आती थी, बाघ को चारापानी देती थी, प्यार भी करती थी खूब।” उसी चंपानगर में इसबार उसे यह नौटंकी कम्पनी की जनानी सवारी मिली। कहानी में एकाधिक बार कम्पनी का बाघ और कम्पनी की औरत को एक दूसरे की सन्निधि में रखा गया है। धुन्नीराम कहता भी है, “तुम भी खूब हो हिरामन, उस साल कम्पनी का बाघ, इस साल कम्पनी की जनाना।” सन्निधि से दोनों अर्थ एक अनिश्चित, अपरिभाषित ढंग से एक दूसरे का संशोधन, परिवर्द्धन और अनुकूलन करते हैं। कम्पनी की औरत का खतरनाक होना भी शायद ध्वनित होता है। “पलटदास टप्पर में झाँककर भड़का, मानो बाघ पर नजर पड़ गयी।” जब उसने अपनी कल्पना की सिया-सुकुमारी हीराबाई के चरण टीपने की इच्छा प्रकट की तो नतीजे में उसे “लगा, गुस्साई हुई कंपनी की औरत की आँखों से चिंगारी निकल रही है-छटक-छटक।”

लेकिन इसके बावजूद यात्रा के दौरान हिरामन कितनी ही बार हीराबाई की छवि पर गाँव-घर का जनाना घरेलू बिम्ब आरोपित कर अपनी इच्छामूर्तियाँ गढ़ता है। यात्रा के अन्त की तरफ वह “अब बेखटक हीराबाई की आँखों में आँखों डालकर बात करता है। कम्पनी की औरतें ऐसी भी होती हैं? सर्कस कम्पनी की मालकिन मेम थी। लेकिन हीराबाई? गाँ की बोली में गीत सुनना चाहती है।” उसकी इन स्वरचित इच्छामूर्तियों का बहुत सुन्दर, सटीक विश्लेषण करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं- “यह सर्जक के अपनी सर्जना में

तन्मय होने की अनुभूति है। स्वप्न देखना, कल्पना करना मूक सर्जना है। हीराबाई का व्यक्तित्व हिरामन के चित्त में छायाओं का प्रक्षेपण करके ही उसे मुग्ध कर रहा है-फूल में बैठी परी, देवकुल की औरत हिरामन के चित्त में निर्मित छायाएँ हैं, लाल डोरी में बैठी दुल्हन भी ऐसी ही एक छाया है-यह शायद सर्वाधिक स्पष्ट छाया है। हीराबाई को चित्त में बसाए हुए हिरामन महुआ घटवारिन का गीत गाने में तन्मय हुआ तो महुआ घटवारिन हीराबाई में रूपान्तरित हो गयी और हीराबाई महुआ घटवारिन में। महुआ घटवारिन ने अपने को पकड़ा दिया। हीराबाई से मिलने के पहले महुआ घटवारिन की ‘कथा’ थी। वह हवा-पानी-धूप की तरह हिरामन को प्रभावित अवश्य करती थी लेकिन उसका रूप नहीं था। हीराबाई चित्त में बसकर महुआ घटवारिन की पहचान बन गयी। हिरामन भी सौदागर का नौकर बन गया जो पानी में महुआ के पीछे कूद पड़ता है।”

जिसे पहले एकैकिक-सम्बन्ध-भाव का अनुभव कहा गया है, वह यही है। लेकिन ये छायाएँ हीराबाई द्वारा प्रक्षेपित की हुई नहीं हैं, जैसा कि विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं। ये स्वयं हिरामन के अपने मन के प्रक्षेपण हैं। हीराबाई की वास्तविक सत्ता उन प्रक्षेपणों के बाहर है। चम्पानगर के मेले में आधीरात को शुरू होनेवाला सफर अगले दिन सूरज के दोबाँस ऊपर चढ़ आने तक, फिर तेगाछिया-विश्राम में सूरज के ढल जाने पर, पुनः शुरू होकर फारबिसगंज के मेले में एक घड़ी रात बीतने तक जा पहुँचता है। चौबीस घण्टे का यह सफर मनःस्थितियों और परिस्थितियों के इतने बारीक विवरणों, इतने किस्से-कहानियों, इतने संकेतों को खोलता-उजालता धीर-विलम्बन में अंकित किया गया है कि चौबीस घण्टों की बजाय महीनों का लगता है। परिचय के औपचारिक आदान-प्रदान से शुरू इस सफर के अन्त तक पहुँचते पहुँचते हिरामन महुआ घटवारिन की गीत-कथा सुनाते हुए अपने अन्तस्तल के गहनतम स्तरों में गोपनतम आकांक्षा में डुबकी लगा चुका है। हिरामन का बहुत प्रिय है यह गीत। “....कितने दिनों बाद भगवती ने यह हौसला भी पूरा कर दिया।”....“पंद्रह-बीस साल तक उमड़ी हुई नदी की उलटी धारा में तैरते हुए उसके मन को किनारा मिल गया है, आनन्द के आँसू कोई रोक नहीं मानते।” मानो महुआ घटवारिन की कथा शुरू करने के पहले ही तय था कि “आज हिरामन अपने मन को खलास कर लेगा।” गीत में उस गहराई से निकली हुई हूक की अभिव्यक्ति हीराबाई को भी अपनी गिरफ्त में ले लेती है। वह लम्बी साँस लेती है, हिरामन के अंग अंग में उमंग समा जाती है। इसी जगह आकर वह “तुम तो उस्ताद हो मीता!” कहकर हिरामन को गुरु का दर्जा देती है। खुद भी वही गीत गुनगुनाती है। गाड़ी एक सूखी धारा की उतराई पर गड़गड़ा कर उतरती है तो वह एक हाथ से हिरामन का कन्धा पकड़ लेती है। चढ़ाई पर उसकी ढीली उँगलियाँ फिर कस जाती हैं। हीराबाई की ओर से भावनाओं की कुल अभिव्यक्ति इतनी ही है।

हिरामन और हीराबाई : सम्बन्ध की अर्थछायाएँ

हिरामन का संसार “लगा” और “देखा” से बना है, हीराबाई का संसार “परखा” से। हिरामन की दुनिया सहज-विश्वासी दुनिया है, एक तरह से गाड़ीवानी उसका नेम-धरम है, आधी रात की उसकी सवारी “अकेली औरत” की रक्षा उसका दायित्व है। लेकिन अपरिचित गाड़ीवान के साथ यात्रा करती “अकेली औरत” हीराबाई का काम परखे बिना नहीं चल सकता। लेकिन परख कर क्या वह प्रेम करने के लिये एक पात्र खोज रही है? परख के इन ब्यौरों से ध्वनित यही होता है कि निश्छल हिरामन के साथ वह स्वयं को सुरक्षित महसूस करती है। भैया और मीता का सम्बोधन दूसरे व्यक्ति पर आत्मीयता और भरोसे का बोझ डाल कर अपनी सुरक्षा यथासंभव निश्चित कर लेने की स्त्री-सुलभ नीति है और दूसरे की नीयत का अनुमान/आभास तो उसकी छँटी इन्द्रिय उसको दिलवा ही

देती है। “हिरामन पर उसको इतना भरोसा हो गया है कि डर-भय की कोई बात ही नहीं उठती है मन में।” पूरी यात्रा वह सहज निश्चिन्त भाव से कभी सोकर, कभी कथा-कहानी-बतरस में कौतुक और विनादे के साथ, कभी गीत-संगीत के सुरों में डूबकर खोकर बिताती है। महुआ घटवारिन की गीत-कथा उसके चारों ओर ऐसा वितान बुनती है कि वह उसमें पूरी तरह से डूब जाती है और मीता हिरामन को उस्ताद और गुरु का दर्जा दे देती है क्योंकि “हमारे शास्त्र में लिखा हुआ है: एक अक्षर भी सिखाने वाला गुरु और एक राग सिखाने वाला भी उस्ताद!” महुआ घटवारिन का गीत सुन कर वह एक गहरी साँस लेती है, उसकी तरफ से यह संप्रेषण का, तादात्म्य का, अन्तरंगता की अनुभूति का, समान भावलोक की साझेदारी का चरम है। कहानी में ऐसा कोई संकेत नहीं कि हीराबाई का यह तादात्म्य गीत के साथ है या हिरामन के साथ। अनुमान ही लगाया जा सकता है कि गीत के साथ क्योंकि इसके बाद ही वह हिरामन को गुरु और उस्ताद कहती है।

हिरामन की रची हुई हीराबाई की रहस्यमूर्ति धीरे धीरे अपने वास्तविक अस्तित्व में परिणत होती जाती है। सड़कों से गुजरता बैलगाड़ी का एकान्त, स्वतःपूर्ण, सम्पूर्ण संसार कथा-कहानी, गीत-संगीत के परिवेश से रचा हुआ है। हीराबाई कलाकार है। उसे हर जगह अपने रचनाकोश के लिये सीखने और संचित करने लायक सामग्री मिलती है। सम्प्रेषण और साधारणीकरण इस परिवेश की भाषा है। दोनों के बीच यह गहरी साझेदारी का सूत्र है। साझेदारी के सूत्र अन्य भी हैं। हिरामन जिस दुनिया का आदमी है उसमें पशु-प्रकृति-मनुष्य एक ही अस्तित्व के विभिन्न आयामों का विस्तार है। उसके बैल जानते-समझते-संवेदनशील जीव हैं, इशारा समझते हैं, आवाज पहचानते हैं, महुआ घटवारिन का गीत सुनकर “थसथसा” जाते हैं। वे उसका अपना परिवार है और भाषा की रूपकीय अर्थवत्ता से स्वयं हिरामन के अन्तःस्तल की वाणी बन जाते हैं।

कम्पनी की औरत होने का मतलब सौहार्द, स्नेह, सौजन्य, आत्मीयता, सद्भावना से रिक्त होना नहीं है। हीराबाई के लिये अपने व्यवहार का अर्थ यही है लेकिन हिरामन के लिये इनके संकेत कुछ अलग ही अर्थ रखते हैं क्योंकि वह दूसरी दुनिया का आदमी है। हीराबाई की उठ-बैठ, चल-फिर में उसे अनेक ऐसे रंग-ढंग दिखते हैं कि वह विस्मित होता है, “कम्पनी की औरत ऐसी भी होती हैं? सरकस कम्पनी की मालकिन मेम थी। लेकिन हीराबाई? गाँव की बोली में गीत सुनना चाहती है।” चौबीस घण्टे की यह यात्रा उसी पशु-प्रकृति-मनुष्य के साझे संसार का आवास है जहाँ लोक अभी जीवित है। परिचय के लेनदेन में हिरामन के जीवन की कहानी तो खुली किताब की तरह सामने रख दी जाती है लेकिन हीराबाई के अतीत के बारे में कुछ भी कहा-बताया नहीं गया है ब्योंरों से अनुमानतः जाना जा सकता है कि बैलों को डौंटने मारने से उसको तकलीफ होती है, गाड़ी से जाते समय वह “अच्छा मैं चलयी भैयन” कहकर बैलों से भी विदा लेती है। यह दुनिया उसके लिये अपरिचित नहीं है। वह कम्पनी की औरत तो है लेकिन मेम नहीं है।

मेला पहुँचने का मतलब बाहर की दुनिया के, खरीद-फरोख्त की दुनिया के सम्पर्क से इस साझे संसार का आवास छिन्न भिन्न हो जाना है। हीराबाई को वापस उसकी दुनिया में ले जाने के लिये बक्सा ढोनेवाला फिर प्रकट होता है। हीराबाई का स्नेह-सौहार्द-सौजन्य-सद्भाव यहाँ भाड़ा और दच्छिना के अलावा कल सुबह रौता कम्पनी में आकर भेंट करने और नौटकी देखने का पास बनवा लेने का अनुरोध बनकर अभिव्यक्त होता है। हीराबाई के लिए यह व्यवहार सहज है, हिरामन के लिए अपने रचे आसमान से “धरती पर धकेल दिये जाने” का दुखद कारण। उसके मन में जागे अभिमान के बहाने ‘रेणु’ हीराबाई को अपनी मूल कथाभूमि पर वापस लौटा लाते हैं- “कम्पनी की औरत कम्पनी में जा रही है, हिरामन का क्या!”

इस कथाभूमि के आग्रह से हिरामन और हीराबाई के सम्पर्क-सूत्र को अभी कायम रहना है इसलिये अभिमान मिटाया जाता है। हिरामन नौटंकी का ‘पास’ लेने जाना नहीं चाहता क्योंकि अभिमान में वह सोचता है कंपनी की औरत कंपनी में गयी। अब उससे क्या लेना देना! चीन्हेगी भी नहीं। “लेकिन नौटंकी कम्पनी के ऐलान से फैली सनसनी, ऐलान में हीराबाई की जैजैकार से जागी पुलक और नगाड़े के साथ हर दिल के नगाड़ हो जाने की उत्तेजना उसे ‘पास’ लेने के लिये भेजती और नौटंकी दिखाने ले जाती है। हीराबाई की खास बात यही है कि वह कंपनी की औरत होने के बावजूद इस दुनिया को भी, इसके हिरामन को भी, चीन्हेती है। हिरामन का अभिमान मिटता है।

हिरामन की थैली हीराबाई के पास अमानत रखी गयी है। रेणु के सामान्य साधारण से प्रतीत होते विवरणों में भी एक प्रतीकात्मक परत छिपी रहती है। बक्से के ऊपर कपड़े का खोल और भीतर झलमल रेशमी अस्तर है जिसमें काली कपड़े की थैली ‘बन्द’ कर दी गयी है। खोल और अस्तर के बीच में बक्सा चमड़े का है। मेले में किस्म किस्म के पाकिटकाट आते हैं। संगी साथियों का भी क्या भरोसा। इस दुनिया में हीराबाई हिरामन की संरक्षिका है। हिरामन की पूंजी उसके बक्से में बंद है लेकिन उसके बक्से को ढोने वाला कोई और है जो बक्सा ढोने के बावजूद, या इसी वजह से मालिकाना व्यवहार करता भी दिखाई देता है।

हिरामन और कम्पनी की औरत

कथानक के ताने-बाने का एक स्तर कम्पनी और कम्पनी की औरत के रिश्तों से बुना गया है जो केवल संकेतित होता है, उभर कर ऊपर नहीं आता। दूसरा स्तर हिरामन और कम्पनी की औरत के रिश्तों के बारे में है। प्रकट रूप से यही कथा है लेकिन इसका नियमन और संचालन अप्रकट स्तर के द्वारा होता है।

गाड़ीवानों के बासे में पहुँच कर हिरामन भी अनेक में एक हो गया है लेकिन फिर भी विशिष्ट क्योंकि हीराबाई के बक्से में अकेले उसी की थैली बन्द है, उसी के गुरुत्व और महत्व से बाकी सबको नौटंकी-प्रवेश के ‘पास’ मिले हैं और हीराबाई के सम्मान की रक्षा में मारपीट के बाद वह हीराबाई का खास आदमी भी बन गया है। कम्पनी के मैनेजर से लेकर परदा खींचने वाले सब उसको पहचानते हैं। हिरामन ने अब भी खुद को उसके रक्षक की भूमिका में रखा तो है लेकिन इस दुनिया में वह काम आसान नहीं। लड़ाई झगड़े मारपीट के सिवाय कोई चारा नहीं। इस दुनिया में हीराबाई का नाम रंडी-पतुरिया है। इस दुनिया के मन में, जीवन के कोमलतम, पावनतम मूल्य देखे-पहचाने नहीं जाते, कीमत के हिसाब से तोले जाते हैं। स्त्री इस दुनिया का सबसे पहला पण्य है। बैलगाड़ी की दुनिया में रहते हुए हिरामन उसको कभी ‘विदागी’ तो कभी -सिरपुर बजार के इस्पताल की ‘डागदरनी’ बताता, सबकी नजरों से बचाता निकाल लाया था। यहाँ, मेले में उसके नाम की दुग्गी पिट रही है, उसका गीत-संगीत-नृत्य खुले आम बिकाऊ है, दर्शकगण उस देवकुल की औरत, उस भगवती मैया, उस परी, उस चम्पे की फूल को बेहिचक ‘रंडी-पतुरिया’ कहते एक-बार झिझकते भी नहीं। लोकदृष्टि में अगर वह गाँव घर की जनाना नहीं तो या देवी हैं या पतुरिया। दोनों के बीच और कोई विकल्प नहीं। लेकिन हीराबाई इन तीनों में से कोई नहीं। वह कलाकार है।

बक्सा ढोने वाले आदमी के आ पहुँचने के बाद, आसमान से धकेल कर धरती पर गिरा दिये जाने की अनुभूति के बाद, धरती पर पाँव टिका चुकने के बाद, ‘कम्पनी की औरत कम्पनी में गयी’ का आभास हो चुकने के बाद हीराबाई हिरामन के सम्बन्ध की रंगछाया में एक अर्थान्तर आभासित होता है। नौटंकी का नशा अभी कायम है, “हमेशा कोई न

कोई बाजा उसके मन के कोने में बजता रहता दिन भर। कभी हारमोनियम, कभी नगाड़ा, कभी ढोलक और कभी हीराबाई की पैंजनी। उन्हीं साजों की गत पर हिरामन पर हिरामन उठता-बैठता, चलता-फिरता।" एक नशा इस अहसास का भी है कि नौटंकी के मैनेजर से लेकर परदा खींचने वाले तक उसको पहचानते हैं। यह अपनी विशिष्टता के अहसास का नशा है लेकिन विशिष्टता का आधार और कारण यह है कि वह हीराबाई का आदमी है।

लेकिन इस दस दिनों में शायद वह मन से स्वीकार कर चुका है कि हीराबाई कम्पनी की औरत है, कम्पनी में रहेगी। अपनी इच्छामूर्तियों के छायानाट्य से वह बाहर निकल चुका है लेकिन भावात्मक लगाव बना हुआ है। शाम होते ही नगाड़े की आवाज सुनकर हीराबाई की पुकार भैया, मीता, हिरामन, उस्ताद, गुरुजी कानो के पास मँडराने लगती है। इस आवाज का साहचर्य अब नौटंकी के नगाड़े के साथ है। अब उसकी कामना है कि कम्पनी का प्रकार बदल ले। सर्कस कम्पनी की मेम की तुलना में उसे हीराबाई अलग, अपने निकट संसार की वासिनी प्रतीत हुई थी जो गाँव की बोली में गीत सुनना चाहती थी, उसे अब वह उसी बाघ नचाने वाली मेम के रूप में देखना चाहता है। कोमलता, सौन्दर्य और वात्सल्य की इच्छामूर्तियों में यह एक और इच्छामूर्ति - सिंहवाहिनी दुर्गा - की वृद्धि है।

मेले में दस दिन नौटंकी के नशे में बिताकर वह फैसला कर चुका है, आज वह हीराबाई से मिल कर रहेगा। "हर रात किसी न किसी के मुँह से सुनता है वह-हीराबाई..... है। कितने लोगों से लड़े वह! बिना देखे ही लोग कैसे कोई बात बोलते हैं!.... राजा को भी लोग पीठ पीछे गाली देते हैं। "हीराबाई से आज मिलकर उसे कहना है" नौटंकी कम्पनी में रहने से बहुत बदनाम करते हैं लोग। सरकस कम्पनी में क्यों काम नहीं करती?" सबके सामने नाचती है, हिरामन का कलेजा दपदप जलता रहता है, उस समय। सरकस कम्पनी में बाघ को नचाएगी।... बाघ के पास जाने की हिम्मत कौन करेगा! सुरक्षित रहेगी हीराबाई!"

लेकिन ऐसा कुछ कह सकने के पहले ही, इसी क्षण उसे यह सूचना मिलती है कि हीराबाई जा रही है, 'टीशन' पर उसका इंतजार कर रही है। 'टीशन' पर विदा का यह क्षण कथा का मर्मबिन्दु है। एक दूसरे को काटती मिलती अनेक भाव-छायाएँ और अर्थ-तरंगें इस एक क्षण में एकाग्र होती हैं। बक्सा ढोने वाला आदमी बाबूसाहब बना मालिकाना अन्दाज में कुलियों का हुक्म दे रहा है लेकिन हिरामन की थैली अब उस बक्से में नहीं है। हीराबाई चिड़िया की देह की तरह गमर थैली को कुरते के अन्दर से निकाल कर हिरामन को वापस देती है। मानो हिरामन की कुल यही अमानत उसके पास हो। बताती है कि लौटकर वह मथुरामोहन कम्पनी जा रही है, अपने देश की कम्पनी है। वह फिर एक बार उसके कन्धे पर हाथ रखती है। उसे गरम चादर-स्नेह की ऊष्मा का आच्छादन-खरीदने के लिए पैसा देना चाहती है।

पैसे का प्रसंग पहले भी दोनों के बीच आया है। मेले में पहुँच कर खाना ले आने के प्रसंग में, भाड़ा दक्खिना के प्रसंग में। कहानी ने हर बार हिरामन की असहज प्रतिक्रिया को दर्ज किया है लेकिन यहाँ वह पहली बार खुलकर हीराबाई के सामने अपनी अप्रसन्नता जाहिर करता है - "हरदम रुपैया-पैसा; रखिये रुपैया!... क्या करेंगे चादर?"

उसके इस कथन में दोनों संसार आमने सामने अपने अलगाव में परिभाषित से प्रतीत होते हैं। एक ओर रुपैया पैसा और दूसरी ओर निश्छल संवेदनशीलता। लेकिन बात इतनी सपाट और आसान नहीं है। हीराबाई सरकस कम्पनीवाली की तरह शुद्ध कम्पनी की औरत नहीं, कलाकार है।

हीराबाई में वह अनुभव-संकुल क्षण उमड़ आता है जिसे शास्त्र की भाषा में भाव-सबलता कहा जा सकता है। प्रथम क्षण में वह हिरामन को गौर से देखती और कहती है, “तुम्हारा जी बहुत छोटा हो गया है। क्यों मीता? महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है गुरु जी,” और उसका गला भर आता है।

इस संक्षिप्त से संप्रेषण में कहानी हीराबाई के मनोभाव के बारे में क्या बता रही है? क्या ऐसा कुछ जिसके सहारे हम इसे उसकी प्रेमकहानी की तरह पढ़ सकें। शायद हाँ, लेकिन तब हमें इसे प्रेम की एक भिन्न और नयी अनुभूति की तरह पहचानना होगा। और अगर वह भिन्न और नयी ही है तो उसे प्रेम के अतिरिक्त और कुछ ही क्यों न कहा जाए? मीता को सम्बोधित वाक्य है, “तुम्हारा जी बहुत छोटा हो गया है।” एक मेले से दूसरे मेले में, एक कम्पनी से दूसरी कम्पनी में, एक नाटक से दूसरे नाटक में आते जाते एक मीता से मुलाकात शायद उसके भी जी को बड़ा करने वाली घटना है। लेकिन जी छोटा होने की बात यह हिरामन के बारे में ही कहती है। उसके अपने सामने अभी संभावनामय भविष्य है। लेकिन इसका अहसास भी उसे है कि अब आगे मुलाकात नहीं होगी क्योंकि वह मथुरामोहन कम्पनी में जा रही है। गुरु जी को सम्बोधित वाक्य है, “महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है।” यह गीत सुनते सीखते हुए उसने हिरामन को उस्ताद और गुरु कहा था। इस मुलाकात के ठीक पहले हिरामन ने उसे नौटंकी का काम छोड़ देने के लिये कहना चाहा था लेकिन इस महुआ घटवारिन का विकल्प सौदागर की नाव से नदी में छलांग लगा देना नहीं है। रंडी पतुरिया जैसे शब्द या तो उसके पास तक नहीं पहुँचते, या उसे नहीं छूते। लेकिन फिर भी कहते-कहते उसका गला भर जाता है। इस क्षण एक बार फिर महुआ घटवारिन वाले गीत में हिरामन के अंतस की हूक की तरह पीड़ा ने उसे छू लिया है। वह कलाकार है। या फिर इस क्षण कम्पनी की औरत में कम्पनी तत्व गौण तथा औरत तत्व प्रधान हो उठा है। सौदागर की खरीद से अपना मूल्य आँकने का फैसला भी अपनी कीमत वसूलता ही है।

निर्णय हीराबाई का है और कसम हिरामन की। हिरामन के हाथ में अन्ततः क्या रह जाता है? “उसने उलट कर देखा, बोरे नहीं, बांस भी नहीं, बाघ भी नहीं...परी...देवी...मीता... हीरादेवी...महुआ घटवारिन-कोई नहीं। मरे हुए मुहूर्तों की गूँगी आवाजें मुखर होना चाहती है।” हिरामन की तीसरी कसम में वही मुहूर्त मुखर हो रहे हैं- “कंपनी की औरत की लदनी...”

पिछली दोनों कसमों के पीछे भी उसकी अपनी कोई भूल या गलती या बेईमानी नहीं, बल्कि उसकी गाड़ी पर किसी दूसरे की लदनी थी। हिरामन उस वर्ग, उस जाति, उस हैसियत और औकात का जीव है जिसकी गाड़ी पर सदा किसी दूसरे की लदनी ही उसका गन्तव्य और मार्ग निर्धारित करती रहती है, और कुछ अंशों में उसका भोक्तव्य भी। लेकिन वह गन्तव्य लदनी का है, उसका अपना नहीं। वह रास्ते का जीव है, भोक्तव्य जरूर उसके पास शेष रह जाता है। लेकिन क्या यह उसके लिये विकल्पहीन ज़िन्दगी का पर्याय है?

तीसरी कसम के पूर्वाभास में हिरामन ने हीराबाई से कहा था, “हर दम रुपैया पैसा; रखिये रुपैया!”

इसके पहले जो दो कसमें उसने खाई थीं वे उसकी जीवन पद्धति के लिये एक मूल्य निश्चित करती थीं। इस बार फिर यह उसकी गाड़ी पर उसके अनजाने, बिनमाँगे आ पहुँची लदनी है जो एक गहरी खलिश के साथ एक और नैतिक निर्णय का कारण बन रही है। तीसरी कसम में हिरामन कम्पनी की औरत की लदनी से इंकार कर रहा है।

यह उसकी अपनी भाषा में व्यावसायिक संसार के औचित्य की सीमाओं से संचालित होने से, जीवन को 'हरदम रुपैया पैसा' के मूल्यमान से तोलने से इंकार है। यह उसका नैतिक निर्णय है अन्यथा हीराबाई ने तो उससे पूछा ही है कि बनैली मेले में आओगे न? लेकिन पोख्ता कलेजे वाले हिरामन की तीसरी कसम एक बार फिर दुनियादारी से अछूते, निश्छल यायावर जीवन को अपनाने का निर्णय है। यह उसकी पिछली दोनो कसमों में अभिव्यक्त व्यक्तित्व का ही तीसरा विस्तार है। इस बार इस निर्णय में पीड़ा और खालीपन है लेकिन अपनी पीड़ा को गीत बनाना उसे आता है। कहानी के अन्त में वह गुनगुनाता है, 'अजी हाँ, मारे गये गुलफाम' के अनुभव के साथ और बावजूद! अब यह भी उसका गीत है।

1.5 सारांश

नयी कहानी आन्दोलन के अन्तर्गत स्वाधीनता के उपरान्त सन 1950-65 के डेढ़ दशकों में रचित कहानी साहित्य आता है। नयी कहानी अनेक कथाधाराओं का समुच्चय है जिसमें वस्तु, विधान, दृष्टि, दर्शन, संवेदनाओं, प्रतिबद्धताओं का वैविध्य और बहुलता है। उसकी एक धारा शहरी संवेदना और महानगरीय जीवन की कहानियों की विषयवस्तु लेकर चलती है तो दूसरी धारा ग्राम-संवेदना की विषयवस्तु को अभिव्यक्त करती है।

स्वाधीनता के उपरान्त भारत की अर्थव्यवस्था का मॉडल औद्योगीकरण के आधार पर बनाया गया और कृषि-प्रधान देश की प्राथमिकताएँ एक झटके में बदल गयी। शहरी संवेदना की कहानियों का सम्बन्ध औद्योगीकरण के रास्ते पर जाते हुए देश में महानगरीय जीवन-पद्धति के आगमन से सम्बन्धित है। तेज-रफ्तार जीवन में सम्बन्धों का "ह्रास, अकेलापन, परिवार और बिरादरी के दबावों से बाहर निकल कर निरंकुश जीवन, अवसाद, हताशा आदि इस विकास के नकारात्मक पहलू हैं जिन्हें कहानी में रेखांकित किया गया।

ग्राम-संवेदना इसके विपरीत गाँवों की दुर्दशा से जुड़ी रही जिसके लिये विकास-योजनाएँ अधूरी, अपर्याप्त और बेईमान थीं। जमीन्दारी उन्मूलन भी आधा अधूरा और गैर-ईमानदार नीयत से लागू किया गया और औद्योगीकरण की कीमत कृषि-प्रधान व्यवस्था को चुकानी पड़ी।

फणीश्वरनाथ रेणु नयी कहानी आन्दोलन में ग्राम-संवेदना की कथा-धारा के प्रमुख कथाकार हैं। उन्होंने प्रकारान्तर से अपने लेखन से कृषक-भारत की मूल्य-व्यवस्था की कसौटी पर औद्योगीकरण तथा शहरीकरण की नीतियों का मूल्यांकन किया है। ऐसा रचनात्मकता की शर्तों से बिना किसी समझौते के साथ किया गया है। वैचारिक परिप्रेक्ष्य मौजूद है लेकिन अभिव्यक्त होने के लिये जीवन और अनुभव में कोई काट-छाँट नहीं करता। वे लोकविरोधी विकास के विरुद्ध थे।

'तीसरी कसम' उनके इसी विश्वास और संकल्प की अभिव्यक्ति है। उसे हम प्रायः केवल प्रेम कहानी मान कर रफ़ा दफ़ा कर देते हैं, कई बार इसी कसौटी पर उसकी अपर्याप्तता और न्यूनता का विवेचन भी किया जाता है लेकिन कहानी अपने समसामयिक जीवन में विकट रूप से व्यक्त होने वाले और कहानी की रचना के पचास वर्ष बाद आज कहानी को और भी अधिक प्रासंगिक बना देने वाले विकटतर यथार्थ से जुड़ी हुई है। यह जीवन के व्यवसायीकरण का यथार्थ है जहाँ व्यक्ति स्वयं को, अपनी कलाओं को पण्य बनाने का इच्छुक होकर भावनाओं को निर्मूल्य कर देता है और इस तरह सार्थकता की संभावना खो देता है। कम्पनी और कम्पनी की औरत के माध्यम से अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर

अभिव्यक्त यथार्थ आज के कॉरपरेट व्यवसाय के भूमण्डलीय संसार में सैकड़ों गुना विकट और घातक हो चुका है। खिलाड़ियों के दाँवों और चालों के बीच उन निरीह, निश्छल लोगों को कीमत चुकानी पड़ती है जिनका इस खेल से दरअसल कोई लेना देना नहीं है। कम्पनी की औरत हीराबाई और गाँव-डगर के निश्छल हिरामन के माध्यम से कहानी इस यथार्थ को अनेक परतीय अर्थवत्ता से संवृत्त करके प्रस्तुत करती है।

1.6 अभ्यास

1. नयी कहानी आन्दोलन में फणीश्वरनाथ रेणु के योगदान और महत्व को रेखांकित कीजिए।
2. नयी कहानी की विशेषताएं बताइए।
3. ‘तीसरी कसम’ कहानी के आधार पर ‘नयी कहानी’ की ग्राम-संवेदना को स्पष्ट कीजिए।
4. ‘तीसरी कसम’ कहानी का मूल्यांकन कीजिए।
5. ‘तीसरी कसम’ कहानी के चरित्र ‘हिरामन’ और ‘हीराबाई’ के सम्बन्धों की जटिलता को विश्लेषित कीजिए।



इकाई 2 डिप्टी कलक्टरी : विश्लेषण और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 नयी कहानी आन्दोलन का संक्षिप्त परिचय
- 2.3 अमरकान्त की कहानियाँ और नयी कहानी
- 2.4 डिप्टी कलक्टरी : पाठ-बोध और प्रक्रिया
- 2.5 सारांश
- 2.6 अभ्यास

2.0 उद्देश्य

अमरकान्त नयी कहानी के एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। इस इकाई में आप उनकी एक सशक्त कहानी 'डिप्टी कलक्टरी' के पाठ के माध्यम से उनके कथा-साहित्य का परिचय पाएँगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- नयी कहानी आन्दोलन की सामान्य पृष्ठभूमि की जानकारी पा सकेंगे/सकेंगी।
- नयी कहानी आन्दोलन में अमरकान्त की जगह तथा योगदान का आकलन कर सकेंगे/सकेंगी।
- स्वाधीनता तथा गणतंत्र की स्थापना के तत्काल बाद के दशक में निम्नमध्यवर्गीय जीवन में परिवर्तन की कल्पना की संभावना में बदलने के विश्वास का चित्र देखेंगे/देखेंगी।
- नयी कहानी के रचनातंत्र तथा सृजन-कौशल के एक पक्ष का सोदाहरण परिचय पाएँगे/पाएँगी।

2.1 प्रस्तावना

अमरकान्त का जन्म 1925 में हुआ। स्वाधीनता के उपरान्त पहले दशक में कथाकारों की चार पीढ़ियाँ सृजन-सक्रिय थीं, जैसा कि प्रायः किसी भी समय में हुआ करता है। अमरकान्त उस समय के रचनाकारों की युवतम पीढ़ी के सदस्य थे। स्वाधीनता प्राप्ति के समय उनकी आयु इक्कीस बाइस वर्ष की रही होगी।

उनकी पीढ़ी की मानसिकता का निर्माण चौथे पाँचवें दशक में हुआ था। विश्व में वह द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद एक विराट विभीषिका से मुकाबले के बाद की अवसन्नता का दौर था और भारत में स्वाधीनता संग्राम के उतार का काल जिसमें सन बयालीस के युवा-आन्दोलन का दमन, बंगाल का अकाल, पंजाब और नोआखाली का नर-संहार घटित हुआ था, साम्प्रदायिक हिंसाकाण्डों की गिनती बढ़ती जा रही थी। अन्तरिम-सरकार के गठन ने नेताओं की 'पदलोलुपता' और 'त्याग' को भुनाने की प्रवृत्तियों को उजागर कर दिया था। इसके परिणामस्वरूप नयी पीढ़ी में प्रेमचंदयुगीन आदर्शवाद तथा आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के प्रति एक अश्रद्धा तथा अवमानना का भाव उत्पन्न हुआ था।

स्वाधीनता का आगमन देश-विभाजन और उसके साथ जुड़ी हिंसा और रक्तपात की त्रासदी के साथ हुआ था। इस त्रासदी का पटाक्षेप गांधी की हत्या के साथ हुआ। स्वाधीनता का अर्थ रातोंरात सबकुछ बदल जाना नहीं हो सकता था लेकिन जो बदला वह बहुत प्रकट और प्रत्यक्ष था। इसलिये निरन्तरता के बावजूद परिवर्तन को इतिहास में 'आजादी के पहले' और 'आजादी' के बाद की सीमा-रेखा और काल-निर्धारण में पारिभाषित करना अनिवार्य था।

विभाजन और विस्थापन के शिकार शरणार्थी/पुरुषार्थी, काफिले-दर-काफिले और उनका पुनर्वास बड़े पैमाने पर हिन्दीभाषी प्रदेशों में जनसंख्या की संरचना को बदल रहे थे, जीवन पद्धति और जीवट के लिये नये नमूने सामने रख रहे थे। स्वाधीनता-संग्राम ने पहले ही स्त्री, परिवार, जाति आदि के सन्दर्भ में हिन्दीभाषी समाज के सामान्यतः बन्द स्वभाव में अपेक्षाकृत खुलेपन का सूत्रपात किया था। अब स्वाधीनता के बाद यह एक बड़ी सांस्कृतिक मुठभेड़ थी जिसे आत्मसात करने की प्रक्रिया में जीवन पद्धति में बड़े बदलाव अवश्यम्भावी थे। आरंभिक आशंका और छिटपुट प्रतिरोध के बाद सहयोग, सम्मिलन और सामंजस्य प्रत्यक्ष रूप से दिखायी देने लगा। रहन-सहन, खान-पान, तीज-त्यौहार, शादी-ब्याह, उत्सव-पर्व सब में यह प्रभाव प्रकट हुआ।

संविधान रचा गया। भारत दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र बना। जनहित और लोक-कल्याण के उद्देश्य से नीतियों का निर्माण हुआ। शिक्षा-तंत्र का विकास और विस्तार हुआ। इस विस्तार के कारण शिक्षितों और प्रशिक्षितों के दायरे में वे सामाजिक समुदाय भी शामिल हुए जो अभी तक उसके बाहर थे। स्त्री की शिक्षा और परिणामस्वरूप आर्थिक आत्म-निर्भरता ने उसके आत्म-बिम्ब और अस्तित्वबोध को बदला। यह अस्मितासंपन्न बनी। जीवन से उसकी अपेक्षाएँ बदली। पारिवारिक सामाजिक सम्बन्धों में उसकी स्थिति में भी बदलाव आया। मनुष्य कहीं दायरे को फैलाता हुआ तो कहीं फैलाने के लिये जद्दोजहद से पुराने दायरों को तोड़ने के लिये जूझता रहा। उसके अपने अस्तित्व और चेतना के प्रयासों के अलावा संवैधानिक प्रावधानों ने भी दाम्पत्य, परिवार और समाज के भीतर उसकी सुरक्षा और अधिकार की व्यवस्था की। दलित समुदायों के लिये आरक्षण के संवैधानिक प्रावधानों का प्रभाव चाहे तात्कालिक रूप से प्रकट न दिखा हो, वह दूरगामी होने वाला और अन्ततः सामाजिक समीकरणों को बदलने वाला था।

जहाँ तक प्रशासन-तंत्र का प्रश्न है, समाजवादी पार्टी के आचार्य नरेन्द्रदेव का यह कथन प्रायः कहा सुना जाता है कि चलाने वाला चाहे जो हो, तेल पेरने का कोल्हू तो तेल ही पेरेंगा। स्वतंत्र भारत में भी प्रशासन-तंत्र का गठन और व्यवहार विदेशी सत्ता के प्रशासन-तंत्र का ही विस्तार था। कम्युनिस्ट पार्टी ने तो यह तक घोषित किया कि गाँधी के नेतृत्व में चलने वाला स्वातंत्र्य-संग्राम भारतीय जनता का स्वातंत्र्य संग्राम न होकर भारतीय पूँजी का स्वातंत्र्य संग्राम था और आजादी के नाम पर जो मिला वह वास्तव में आजाद था ही नहीं। लालफीताशाही, कोटा-परमिट, अनियंत्रित भ्रष्टाचार और चोर-बाजारी का घटाटोप बड़े पैमाने पर इसे प्रमाणित करता सा भी लगता है। प्रधानमंत्री की हैसियत से राजीव गाँधी का कथन मशहूर है कि जन-कल्याण योजनाओं का रुपये में पन्द्रह पैसा ही दरअसल जनता के पास पहुँचता है। लेकिन निस्संदेह सारी न्यूनताओं और अधूरी अपेक्षाओं के बावजूद 15 अगस्त 1947 एक वास्तविक तिथि और स्वाधीनता की प्राप्ति एक वास्तविक घटना थी। नयी कहानी का एक-डेढ़ दशक देश के इतिहास में नेहरू-युग का स्वप्नदर्शी दौर था जिसमें भविष्य मात्र संभावना नहीं, आगामी यथार्थ था। संविधान, योजना आयोग, पंचवर्षीय योजनाओं और लोकतंत्र के आन्तरिक तर्क ने जिन परिवर्तनों का सूत्रपात किया उनमें सबकुछ भले ही उचित और काम्य न रहा हो, लेकिन फिर भी

2.2 नयी कहानी आन्दोलन का संक्षिप्त परिचय

स्वाधीनता की पूर्व-संध्या का हिन्दी साहित्यजगत प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कथासाहित्य में परिवर्तन की आरंभिक आहटों से गूँजने लगा था। सन 1936-40 के दौरान विचार के क्षेत्र में एक ओर मार्क्स के माध्यम से ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मानव की आर्थिक-सामाजिक नियति का साक्षात्कार तथा दूसरी ओर फ्रायड के माध्यम से अचेतन मन की गहराइयों, कुण्ठाओं और ग्रन्थियों का नया परिचय था। इन सर्वथा नये विचारों का सम्मोहन एक ओर ज्ञान के नये क्षितिज का विस्तार करता हुआ प्रतीत हो रहा था तो दूसरी ओर प्रेमचंदयुगीन आत्मवाद, आदर्शवाद और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की परम्परा से उच्चाटन का कारण और आधार भी दे रहा था। इस वैचारिक सम्मोहन ने अपना आधार वस्तुगत यथार्थ में रोपने के पहले ही हिन्दी के साहित्य जगत को दो खेमों में विभक्त कर दिया था - एक प्रतिबद्ध तथा दूसरा स्वतंत्र। मार्क्स के सम्मोहन के पास कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन का सहारा भी था और पार्टी-निर्देश की चौहदियाँ और दायरे भी। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की शुरुआत में देश और दुनिया का यथार्थ भी बदल रहा था और उसे देखने और रचने की दृष्टि भी। लेकिन इलाचंद्र जोशी, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', 'पहाड़ी', यशपाल जैसे लेखकों में मार्क्स और फ्रायड के ये विचार रचनात्मकता के स्तर पर अभी केवल विचार ही बन कर जड़ रह जाते थे, अनुभव में ढल कर यथार्थ नहीं बन पाते थे। इस परिदृश्य में उत्तराधिकार को स्वाधीनता के उपरान्त 'नयी कहानी' ने अपनी रचना और विचारणा से एक संश्लिष्ट 'नये' यथार्थ में बदला और रचनात्मक परिणति दी। नये बोध में घोषित रूप से भावुकता और रुमान के लिये कोई जगह नहीं थी। प्रेमचंद के पूरे कथाकोश में से चुनकर उसने केवल 'कफ़न' और 'पूस की रात' जैसी कहानियों को पूर्व-परम्परा की विरासत के रूप में स्वीकार किया।

नयी कहानी के आरंभ को लेकर एक निष्कर्षहीन उहापोह चली। मोहन राकेश का पहला संग्रह 'इंसान के खण्डहर' 1950 में आ चुका था। कहानियाँ उसके पहले ही लिख-छप चुकी रही होंगी लेकिन उनकी इन कहानियों में 'नयी' के विशेषण की योग्यता का आगमन नहीं हुआ था। बहस इस बात पर भी चली कि 'नयी कहानी' के अपने दावों के बावजूद उसमें कुछ नया है भी या नहीं। जीवनगत बदलाव को रचनागत बदलाव माना जाय या नहीं? रचना-विधान में परिवर्तन को आधार मानते हुए नामवर सिंह ने निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' (1954) को पहली नयी कहानी कहा है। वास्तविक आरंभ को किसी रचना विशेष के साथ जोड़ना इस बात पर निर्भर है कि कौन सी रचना का विधान हमारे अपने नयेपन के बोध के साथ मेल खाता महसूस होता है और वह अलग अलग पाठक के लिये अलग अलग हो सकता है। 1956 में 'कहानी' पत्रिका का वह विशेषांक आया जिसे दृष्टिगत बदलाव को देखते हुए एक तरह से 'नयी कहानी' के समग्र विकसित कलेवर की प्रस्तुति कहा जा सकता है। राजेन्द्र यादव की 'खेल खिलौने' 1951 में प्रकाशित हुई थी। यही कहना उचित है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में फिर एक हलचल के लक्षण 1950 के आसपास दिखाई दिये। यह नयी कहानी आन्दोलन का पूर्वाभाष था। सामान्यतः 1950 से 1965 तक का डेढ़ दशक 'नयी कहानी' का पहला दौर है। यँ इसका सूत्रपात स्वाधीनता के पहले ही, चौथे दशक में हो चुका था। स्वाधीनता के बाद परिस्थितिगत परिवर्तन और बोधगत बदलाव ने कहानी के वस्तुविधान और रचनातंत्र को जिस तरह उसको रचनाकारों ने स्वयं पहचान कर अपने शिल्प और संवेदना को 'नये' की तरह

परिभाषित किया और एक सैद्धान्तिक आधार भी दिया जिसने इस हलचल को एक मोड़ और आन्दोलन की शक्ल दे दी।

कहानी के लिये 'नयी' का विशेषण केवल कालवाची नहीं जिसके अनुसार हर अगली वस्तु पिछली की अपेक्षा नयी होती है और अगली के आते ही खुद पिछली या पुरानी हो जाती है। वह जीवन के लिये 'नये' दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करने वाला विशेषण है, आधुनिक चेतना का पर्यायवाची बना कर लाया गया है। इस अर्थ में वह केवल समसामयिकता का नहीं, बल्कि एक दृष्टिकोण, एक मूल्यबोध, चेतना के एक विशेष स्तर का धोतक है। हम सब जानते हैं कि आधुनिकता का बोध वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तर्कसम्मत मूल्यचेतना का आग्रही है। अतः उसके लिये कुछ भी ऐसा नहीं है जो शंका और सन्देह के परे हो, और न ही कुछ ऐसा है जो परंपरागत या परिपाटीबद्ध होने के कारण आर्षवाक्य प्रमाण मात्र से स्वीकार्य हो। वह अनुभूति की प्रामाणिकता को सत्य की कसौटी मान कर चलता है और अपने 'जिये हुए, भोगे हुए' यथार्थ को ही सत्य की प्रतिष्ठा देकर अभिव्यक्त करना चाहता है।

उसके इस आग्रह ने उसे बहुत से आरोपों का अभियुक्त बनाया। स्वीकृत मान्यताओं, निर्धारित आस्थाओं, तथाकथित सनातन परम्पराओं के भंजन जैसे बहुत से समाजद्रोही विचारों को प्रश्रय देने का इल्जाम इस पर लगा लेकिन अब इतना समय बीत जाने के बाद लौट कर देखा जा सकता है कि इसके मूल में प्रचलित और परिपाटीबद्ध जीवन पद्धतियों की घुटन और छटपटाहट थी, बदलती परिस्थितियों और नये भावबोध के सन्दर्भ में अप्रासंगिक होती गयी उचित अनुचित की कसौटियों की परीक्षा का आग्रह था, व्यक्ति की पारिवारिक-सामाजिक भूमिकाओं को अनुभव की प्रामाणिकता से जाँचने का आग्रह था, यह देखने का साहस था कि बने बनाए मिथकों में से कितना सत्यापित होता है अथवा खारिज किया जा सकता है। ऐसी परिस्थितियों में बहुत कुछ अतिवादिता की हदों के पार चला जाता है, बहुत कुछ आवेगजन्य फेन और फिचकुर में उबलने और बैठ जानेवाला तात्कालिक किस्म का गुबार होता है। हुआ भी लेकिन अन्ततः अनुभूति और विचारदृष्टि को पहचानने का काम मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर ने किया। इसी वजह से उनके नाम अन्यान्य अनेक 'नये' लेखकों के बीच अलग से रेखांकित हुए और ये हिन्दी कहानी के तीन तिलंगे कहलाए।

राजेन्द्र यादव द्वारा सम्पादित 'एक दुनिया समानान्तर' की भूमिका, कमलेश्वर कृत 'नयी कहानी की भूमिका', मोहन राकेश द्वारा लिखित 'परिवेश' तथा आलोचकों में सुरेन्द्र चौधरी द्वारा लिखित 'नयी कहानी: पाठ और प्रकृति', देवीशंकर अवस्थी द्वारा सम्पादित 'नयी कहानी: सन्दर्भ और प्रकृति' तथा नामवर सिंह द्वारा लिखित 'कहानी: नयी कहानी' को इस आन्दोलन के सन्दर्भ ग्रन्थों की तरह देखा जा सकता है।

स्वाधीनता प्राप्ति के तत्काल बाद के कई वर्ष कई स्तरों पर टूट-फूट तथा मोहभंग के वर्ष थे। संघर्ष के दौरान दूर पर झिलमिलाता हुआ स्वाधीनता का स्वप्न यथार्थ के रूप में अधूरा और अपर्याप्त सिद्ध हुआ। संघर्ष के दौरान विदेशी सत्ता के रूप में एक ऐसा समान शत्रु लक्ष्य की तरह हमारे सामने मौजूद था जिसके विरुद्ध एकजुट होने की जरूरत सबको एक साथ बाँधे रखने का काम कर सकती थी। संघर्ष के दौरान ही विदेशी सत्ता फूट के बीज बोकर इस एकता को खण्डित करने में सफलता पा चुकी थी। संघर्ष के अन्तिम दौर में वह फूट अपने चरम को पहुँच चुकी थी और स्वाधीनता प्राप्ति अपने साथ विभाजन की पीड़ा को लेकर आई थी। समान शत्रु का दबाव सामने से हट जाने के बाद के वर्षों में लोकतंत्र के आन्तरिक तर्क से यह स्वाभाविक ही था कि सबके स्वार्थ और उद्देश्य, हित और लाभ एक दूसरे से अलग हो जाते और विशाल भारतीय जनसंख्या छोटे

छोटे समुदायों में बँट जाती क्योंकि हमारे नेता भी ऐसा कोई विराट स्वप्न जनता के सामने रख नहीं सके जो सबके हित को एक साथ बाँध पाता। ऐसा नहीं है कि संघर्ष के दौरान सब कुछ भला और उजला ही रहा होगा लेकिन मोटे तौर पर सच्चाई यह है कि वह आदर्श पर विश्वास का दौर था और स्वाधीनता प्राप्ति के बाद आदर्शों से मोहभंग का। दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन मध्यवर्ग की संरचना में आया। अधिकांश लेखक समुदाय इसी मध्यवर्ग से आता है। जिन व्यवसायों में अबतक के मध्यवर्ग को प्राथमिकता प्राप्त थी चिकित्सा, वकालत, पत्रकारिता, अध्यापन, सरकारी नौकरियाँ आदि उनमें अब व्यापारी तथा धनी कृषकवर्गों का वर्चस्व बढ़ता जा रहा था। शिक्षा का दायरा फैल रहा था। आर्थिक साधन तथा सत्ता के वितरण में आए हुए परिवर्तन ने सामाजिक ढाँचे में भी एक बड़ा परिवर्तन उपस्थित कर दिया था। इस कारण से नौकरशाही और सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित अन्य व्यवसायों में पुराने मध्यवर्ग की साझेदारी घटती गयी और वह हर उस क्षेत्र से बेदखल होता गया जिसमें पैर जमाने के लिये पूँजी की जरूरत थी। भविष्य पर उसकी पकड़ ढीली होती जा रही थी। यह असुरक्षा भी मोहभंग का एक ठोस वस्तुगत कारण समझी जा सकती है। तीसरी महत्वपूर्ण बात औद्योगीकरण, शहरीकरण, और स्थानान्तरण के कारण आयी सामाजिक गतिशीलता और विस्थापन से सम्बन्धित है। संयुक्त परिवारों का विघटन हुआ। शहरों की ओर पलायन शुरू हुआ। महानगरीय संस्कृति अस्तित्व में आई। अब तक परिचित परिवेश और जाने पहचाने परिवार-बिरादरी में रहते आए लोगों ने अपने आपको अपरिचितों की महानगरीय भीड़ में पाया जहाँ न बिरादरी के अंकुश थे, न सुरक्षा का अहसास। व्यक्ति के भीतर अस्तित्वबोध की हानि, अकेलेपन और अजनबीपन के अहसास प्रबल हो उठे। सामान्यतः ये नयी कहानी की शहरी संवेदना के बहुरचित विषय है।

विषयवस्तु के प्रकारों को अलग अलग कथाधारा के रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया जा सकता है, किया भी गया - शहरी संवेदना, ग्रामीण संवेदना, मध्यवर्गीय संवेदना, अभिजात संवेदना या निम्नवर्गीय संवेदना जैसी कथाकोटियों में विभाजित करके अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है लेकिन ध्यान में रखना होगा कि एक ही रचनाकार अनेक विषयवस्तुओं को आधार बना सकता है और एक ही कहानी में संवेदना के अनेक पक्ष और परतें संभव हैं। एक विभाजन व्यक्तिनिष्ठ संवेदना और समाजनिष्ठ संवेदना का भी किया गया, जिसका एक रूपान्तर आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ भी है। इस किस्म के विभाजन कहानी के मर्म को अछूता ही छोड़ देने के तथा विपक्ष को परिभाषित, खण्डित और तिरस्कृत करने के कुछ सुविधाजनक रास्ते हैं अन्यथा सच तो यही है कि व्यक्ति का एक सामाजिक आयाम है और समाज की एक वैयक्तिक मूर्तिमत्ता। वस्तुतः अनुभूति की प्रामाणिकता का आग्रह और उसके साथ जुड़ा हुआ संवेदनागत शिल्पगत बदलाव ही नयी कहानी की व्यावर्तक पहचान है।

कहानी अपने शिल्प से अपनी प्रामाणिकता का अर्जन करती है। अज्ञेय और जैनेन्द्र की रचनाओं में इन युक्तियों का सूत्रपात हो चुका था। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु, अमरकान्त आदि के लेखन में वे प्रयोग की व्यापकता को प्राप्त हुई। सपाट वर्णन के स्थान पर भावात्मक उठान, दृश्य-विधान, तहदार वस्तु का परत-दर-परत उद्घाटन, रूपकीय विधान द्वारा नाटकीय संक्षेपण, सूक्ष्म पर्यवेक्षण द्वारा छोटे छोटे विवरणों और बारीकियों के जमघट से वस्तुगत सत्यता का आभास, विचार के भावात्मक समतोल की तलाश आदि अनेक ऐसी युक्तियाँ हैं जिनसे कहानी का विधान हर तरह के अनुभव को समेटने लचीलेपन की सामर्थ्य से लैस हो गया। आदि-मध्य-अवसान वाले सीधे सादे कथानकों से लेकर पत्र, डायरी, आत्मालाप, चेतना-प्रवाह, सिंहावलोकन, विहंगम दृष्टि तक के ढेरों प्रयोगों ने कहानी के रचना-तंत्र और युक्तिकोष को समृद्ध किया।

2.3 अमरकान्त की कहानियाँ और नयी कहानी

पहली इकाई में आपने स्वाधीनता की पूर्व-संध्या की विरासत के सन्दर्भ में प्रतिबद्ध तथा उत्तरदायी युवा पीढ़ी के रचनात्मक सरोकारों के विषय में पढ़ा है। फणीश्वरनाथ रेणु की तरह ही अमरकान्त ने भी 1942 के स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी की थी। गाँधी जी के आह्वान पर वे देश के सैकड़ों हजारों युवाओं के समान पढ़ाई छोड़ कर 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में कूद पड़े थे लेकिन आन्दोलन का दमन हुआ, आन्दोलन कुछ समय तक भूमिगत होकर भी जैसे तैसे जारी रहा फिर समाप्त हो गया। युवा पीढ़ी के लिये निराशा और दिशाहीनता का दौर शुरू हुआ।

निम्न मध्यवर्गीय आर्थिक स्थितियों में बेकार, बेरोजगार जीवन की मनहूसियत, पारिवारिक तिरस्कार, व्यक्तिगत निरर्थकता का आत्म-हन्ता बोध, स्वाधीनता के स्वप्न से मोहभंग, समय-सजगता व सामाजिक प्रतिबद्धता और आलोचनात्मक दृष्टिकोण - लेखन सामग्री के रूप में अनुभव की यह पूँजी लेकर उन्होंने शुरुआत की। 'अमरकान्त की सम्पूर्ण कहानियाँ', खण्ड-1 की आत्म-कथ्य शीर्षक भूमिका तथा 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' की भूमिका में उन्होंने उस दौर के विषय में लिखा है। उस टूटन और मोहभंग से भरे जीवन में लेखन उनके लिये सार्थकता और सोद्देश्यता के अर्जन का रास्ता बना। वे कहते हैं, "मेरे लिये यही एकमात्र ऐसा रास्ता बचा था जिसपर चल कर मैं देश के लोगों के सुख-दुख में शामिल हो सकता था। उनके संघर्षों में उनका साथ दे सकता था। उनकी आशा आकांक्षा को अभिव्यक्त कर सकता था। उनकी शक्ति सामर्थ्य और उनकी कमजोरियों को समझ सकता था। लेखन के माध्यम से साधारण लोगों से जुड़ने का अर्थ मनुष्यता से जुड़ना है, मनुष्यता को प्यार करना है और उन सभी बातों का विरोध करना है जो मनुष्य को मनुष्य से अलग करती हैं, उनको बाँटती हैं, उनको मनुष्यता से गिराती हैं। मनुष्यता के पक्ष में यह एक ऐसी लड़ाई है जो निरन्तर जारी रहती है, और हर लेखक अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार लड़ता है। ये कहानियाँ इन्हीं सच्चाइयों को अभिव्यक्त करती हैं।"

अमरकान्त का लेखन अपने समयस्कों की तुलना में थोड़ा विलम्ब से आरंभ हुआ। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर आदि की आरंभिक कहानियाँ छठें दशक की शुरुआत के पहले ही लिखी जा चुकी थीं जबकि अमरकान्त की सुप्रसिद्ध कहानी 'दोपहर का भोजन' कहानी पत्रिका के जनवरी 1955 के अंक में छपी और 'डिप्टी कलक्टरी' उसी पत्रिका द्वारा आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी कहानी प्रतियोगिता में पुरस्कृत तथा 1956 के विशेषांक में प्रकाशित हुई थी। यँ इसके चार-पाँच वर्ष पहले से ही वे कहानियाँ लिख रहे थे लेकिन उनकी उल्लेखनीय पहचान तथा लेखकीय प्रतिष्ठा इन्हीं कहानियों के साथ शुरू होती है।

उनका प्रथम कहानी संग्रह 'जिन्दगी और जोंक' 1958 में प्रकाशित हुआ। प्रथम संकलन में ही वे अपनी रचनात्मक प्रतिभा के सर्वश्रेष्ठ स्तर का स्पर्श कर गये। इसी में संकलित 'जिन्दगी और जोंक', 'दोपहर का भोजन' और 'डिप्टी कलक्टरी' को नयी कहानी की क्लासिक रचनाओं का दर्जा प्राप्त है। 'देश के लोग', 'मौत का नगर', 'कुहासा' उनके अन्य कहानी संग्रहों के नाम हैं। कहानियों के अतिरिक्त उन्होंने 'सूखा पत्ता', 'काले उजले दिन', 'सुख जीवी', 'बीच की दीवार' और 'आकाश पक्षी' शीर्षक उपन्यास भी लिखे। लेकिन पूर्वोक्त तीनों कहानियाँ उन्हें अमरकान्त बनाने के लिए पर्याप्त हैं।

नयी कहानी की विविध धाराओं में अमरकान्त की जगह निर्धारित करें तो विषयवस्तु के अनुसार वे शहरी संवेदना के लेखक कहे जा सकते हैं लेकिन 'नये' के उस परिभाषित

अर्थ की शहरी संवेदना के नहीं, जिसके अनुसार गाँव-कस्बों-छोटे शहरों से अपेक्षाकृत बड़े शहरों में आए हुए, अपनी जड़ों से उखड़े हुए तथा जड़ को जड़ता समझ कर खुद उखाड़ने को तत्पर नकारवादी पात्रों, परिवार और बिरादरी से टूटे और छूटे हुए अकेले, अवसादग्रस्त और गैर-जिम्मेदार पात्रों या फिर अपने स्वभाव और संस्कार से सर्वथा विपरीत महानगरीय जीवन-स्थितियों के दबावों में संतुलित, आत्मलीन, अवसादग्रस्त पात्रों की मानसिकता को शहरी संवेदना की तरह समझा और जाना गया था। शहरी संवेदना का यह रूप स्वाधीन भारत के भविष्य की योजनाओं के खाके का नतीजा था जिसमें औद्योगिक विकास और शहरीकरण की तेज होती प्रक्रिया ने व्यक्ति के अनभ्यस्त संवेदन-तंत्र पर ऐसा ही आघात किया था। यह संवेदना अब तक की परम्परागत भाव-पद्धति से भिन्न तथा अपरिचित संवेदना थी।

अमरकान्त की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन के उस पक्ष से ज्यादा सघन सरोकार रखती हैं जिसके बारे में ऊपर कहा जा चुका है कि नौकरशाही और सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित अन्य व्यवसायों में पुराने मध्यवर्ग की साझेदारी घटती गयी और वह हर उस क्षेत्र से बेदखल होता गया जिसमें पैर जमाने के लिये पूँजी की जरूरत थी। भविष्य पर उसकी पकड़ ढीली होती जा रही थी। 'दोपहर का भोजन' और 'डिप्टी कलक्टरी' और 'गगनविहारी' इसी विषयवस्तु के विविध आयामों की कहानियाँ हैं। 'हत्यारे' नामक कहानी में अवश्य उन्होंने युवाओं की एक उच्छिन्न, संवेदनहीन, निर्मम टोली की निर्मम, निरुद्देश्य, निरर्थक, लगभग मौज की मनोवृत्ति से की गयी हिंसा का चित्र खींचा है लेकिन वह एक अपवाद है और शायद उनकी सृजनात्मक मनोवृत्ति के अनुरूप भी नहीं है इसलिये वे इस किस्म के यथार्थ के पास लौट कर नहीं आते।

अमरकान्त ने अपनी कथा-सामग्री निम्न-मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के दैनिक जीवन के आम अनुभवों से ली है और कभी बहुत गहरे परिचय तथा आत्मीयता के साथ उसके अभावों, संभावनाओं, दुखों, पीड़ाओं का तो कहीं व्यंग्य और प्रहार के साथ उसके अन्तर्विरोधों, विश्वास और आचारण की विसंगतियों, नैतिक स्खलनों को चित्रित किया है। उनका वस्तुचयन प्रगतिशील खाके में परिभाषित वस्तु-सूची के सीमाओं में बने रहते हुए ही निरूपण की बारीकी, संयत संवेदना और संतुलित आवेग के सहारे सीमाओं का अतिक्रमण करता है।

सर्वहारा के प्रति गहरी करुणा और जीवन की गरिमा के प्रति सम्मान की गहरी भावना 'जिन्दगी और जोंक' नामक कहानी में दिखती है। अपने 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' शीर्षक संकलन की भूमिका 'मेरा लेखन: मेरा परिवेश में' इस कहानी की सृजनात्मक पृष्ठभूमि में वे कथाकार अमरकान्त की चर्चा अन्य पुरुष के रूप में करते हैं - "उन्हीं दिनों उसने अपने समाज और इतिहास का एक अत्यन्त वीभत्स रूप देखा। युद्ध के दिनों में जब नौकर चाकर फौज में भरती हो गये थे, रजुआ न जाने किस बिल-सूराख से निकल आया था। काला भुजंग नाटा गन्दा बदबूदार डरपोक, हास्यास्पद हर स्थिति में जीनेवाला आत्मसमर्पणवाली होशियारी से हर स्थिति को स्वीकार करने वाला - एक प्रतिशत इंसान। आधा फीसदी नम्बर तो मनुष्य का शरीर मिलने से ही मिल जाता है और शेष आधा फीसदी में आत्म-अधिकार, चेतना आदि भावनाएँ हैं। सदियों से इतिहास ने उसे इतना ही दिया है और उसी पूँजी को छाती से चिपकाए वह जीवित रहने का ढंग सीख गया है। समाज में ऐसा अन्तर्विरोध क्यों है। रजुआ सपना देख सकता है। वह उसे रोज़ देखता, घण्टों उसके बारे में सोचता, अपने अन्दर दूर दूर तक देखता, और चारों ओर कष्ट, घोर अन्धकार में एक रोशनी टिमटिमाती नजर आती। उसके अन्दर परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हो गयी थी। वर्षों वह प्रक्रिया चलती रही।"

‘जिन्दगी और जोंक’ सहज सादगी के शिल्प में रजुआ को मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा का बिम्ब बना देती है।

‘अमरकान्त के इसी शिल्प कौशल का दूसरा उदाहरण है ‘दोपहर का भोजन’। पूरी कहानी पात्रों के क्रिया-कलाप के बारीक विवरणों से बुनी गयी है। कहानी की व्यंजनाशक्ति को पकड़ने के लिये एक एक विवरण को ध्यान से देखने की जरूरत है। यह एक सर्वथा विपन्न और असहाय निम्न-मध्यवर्गीय परिवार में दोपहर के एक डेढ़ घण्टे की अवधि का विलम्बित चित्र है जिसके दौरान परिवार का एक सदस्य बारी बारी से आता भोजन के लिये बैठता और खाकर उठता है - दो बेटे, गृहस्वामी और अन्त में गृहस्वामिनी। छोटा बेटा अभी सो रहा है, उसका भोजन रख दिया गया है। शुरू से आखिर तक केवल गृहस्वामिनी है जो लगातार उपस्थित है। वही कहानी की धुरी है और कहानी में चित्रित परिवार की भी। उसी की मनःस्थिति की पूरी कहानी को एक सूत्र में पिरोए हुए है।

हर सदस्य के भोजन के लिये बैठते समय एकाध शब्दों के हेर-फेर के साथ कहानी वही मीन्यू दोहराती है - कुल दो रोटियाँ, भर कटोरा पनियाई दाल, चने की तली तरकारी। यह सूची मानो बार बार ‘दोपहर का भोजन’ शीर्षक में प्रयुक्त ‘भोजन’ को व्यंग्य से करुण बना रही हो। हर बार गृहस्वामिनी की ओर से थोड़ा और लेने का आग्रह, हर बार हर सदस्य की ओर से अपनी अपनी तरह से पेट भरा होने की कह कर थोड़ा और लेने से इंकार क्योंकि हर एक को पता है कि उसके हिस्से का भोजन कुल इतना ही है। खाने के अलग अलग तरीके से अलग अलग पात्रों के चरित्र के संकेत देने की कोशिश करता हुआ चित्रण। बड़ा छोटे छोटे ग्रास धीरे धीरे खाता है और अन्तिम ग्रास पान के बीड़े की तरह लेता है। थोड़ा और लेने से दृढ़ संकल्प तथा धैर्यपूर्वक भोजन का विधिवत समापन। मझला बेटा एक रोटि के साथ तीन चौथाई दाल और अधिकांश तरकारी का सफाया कर चुकने के बाद थोड़ा और लेने के इंकार में रोटि के अखाद्य होने के विषय में टिप्पणी करता है और कटोरी भर दाल और ले लेता है। वह न तो बड़े बेटे जितना सहनशील है, न उतना धीर। ‘पिता के आते ही वह दाल को एक सांस में पीकर तथा पानी के लोटे को हाथ में लेकर तेजी से बाहर चला जाता है, इस किस्म के छोटे छोटे विवरणों के संयोजन से कहानी लेखक की ओर से बिना किसी वक्तव्य के, परिवार के सदस्यों के आपसी सम्बन्धों के ताने बाने को उजागर कर देती है।

‘कहानी के अन्त में गृहस्वामी मुंशी चन्द्रिका प्रसाद दोपहर का भोजन कर चुकने के बाद “औंधे मुँह होकर निश्चिंतता के साथ सो रहे थे, जैसे डेढ़ महीने पूर्व मकान-किराया-नियंत्रण विभाग की क्लर्की से उनकी छँटनी न हुई हो और शाम को काम की तलाश में कहीं जाना न हो...”

इस बेरोज़गार, विपन्न, असहाय परिवार में गृहस्वामिनी सिद्धेश्वरी के अलावा अन्य सदस्यों में आपस में किसी से कोई बातचीत नहीं दिखाई गयी है। सिद्धेश्वरी ही भोजन करते समय सब को एक दूसरे के बारे में सबकी स्नेहभावना की सूचना देते हुए इस कतर-ब्यौत के बीच परिवार को बाँधे बनाए रखने लायक सांत्वना के करुण असंभव प्रयत्न में लगी है। लेकिन स्वयं अपने लिये उसके पास कोई सांत्वना नहीं है। अधपेट अपर्याप्त भोजन का पहला ग्रास मुँह में रखते ही “न मालूम कहाँ से उसकी आँखों से टप टप आँसू चूने लगे।” लेकिन इसके पहले तक उसके इस प्रयत्न का ताप क्रमशः चढ़ता चला जाता है। बड़े बेटे से मझले के बारे में बोलते हुए का विवरण है, ‘किन्तु सच बोलने कि उसकी तबियत नहीं हुई और झूठ-मूठ उसने कहा’, मझले से बड़े के बारे में ‘इस तरह बोली जैसे

स्वप्न में बड़बड़ा रही हों, मुंशी जी से दोनो बेटों के बारे में बोलते हुए 'सिद्धेश्वरी पर मानो नशा चढ़ गया था। उन्माद की रोगिणी की भाँति बड़बड़ाने लगी उसके बोलने का सारांश यही है कि घर में सब एक दूसरे पर जान देते हैं, एक दूसरे की इज्जत करते हैं, तारीफ़ करते हैं, बेटे पिता को देवता समझते हैं, तीनो बड़े जहीन और होनहार है इत्यादि, लेकिन इन्ही विवरणों के भीतर बीच बीच में ये ब्यौरे भी गुँथे हुए हैं कि 'उसको पहले हिम्मत नहीं हुई थी कि उसके पास जाए', 'सच बोलने की उसकी हिम्मत नहीं हुई' सिद्धेश्वरी भय तथा आतंक से अपने बेटों को निहार रही थी; 'इन दोनो लड़कों से उसे बहुत डर लगता था।' इस एक डेढ़ घण्टे की अवधि के शब्द-चलचित्र में मानो उसके जीवन के ओर-छोर का खाका खींच कर रख दिया गया है - चिन्ता का चरम, भय और आशंका की अति और स्नेह का उन्माद। इनके सहारे वह निम्न-मध्यवर्गीय वास्तविकता जताती है और उसे पारिवारिकता के कवच में सहेजने का दुस्साध्य पराक्रम निभाती है। मुंशी चन्द्रिका प्रसाद की भोजनोपरान्त की निश्चिन्त नींद मानो चरम हताशा की निश्चिन्तता है जब अवसाद ही जीवन पद्धति में बदल चुका है। अन्त के कुछ वाक्यों में एक दृश्य आता है 'आँगन की अलगनी पर टँगी एक गंदी साड़ी टँगी थी। जिसमें पैबन्द लगे हुए थे।' इस दृश्य के बाद ये सूचनाएँ हैं- "दोनो बड़े लड़कों का कहीं पता नहीं था। बाहर की कोठरी में मुंशी जी औंधे मुँह होकर निश्चिन्तता के साथ सो रहे थे।" परिवार के लापता भविष्य और औंधे मुँह वर्तमान के आँगन के बीच टँगी यह पैबन्द लगी साड़ी मानो सिद्धेश्वरी की अपर्याप्त, असहाय लेकिन प्राण-पण से प्रयासरत उपस्थिति है। कहानी स्त्री और उसके घर के प्रति करुणा की अभिव्यक्ति है। लेकिन कहानी में उभरता यह अहसास यह कोई अलंकृति नहीं, किसी चमत्कारपूर्ण भाषिक प्रयोग की प्रतीकात्मक परिणति नहीं, ठेठ अभिधा द्वारा संभव की गयी व्यंजना है। मितभाषी शब्दों की परतों को फोड़ती और उनसे स्वयं फूट फूट पड़ती यह व्यंजना अमरकान्त की अपनी सिद्धि है। ऐसी सिद्धि रोज़ रोज़ संभव नहीं होती, स्वयं अमरकान्त से भी नहीं।

तीसरी कहानी 'डिप्टी कलक्टरी' आपके पाठ्यक्रम में निर्धारित है। आगामी पृष्ठों में हम उसके पाठ का विस्तृत विश्लेषण करने जा रहे हैं। पिछले अनुच्छेदों में 'जिन्दगी और जोंक' के माध्यम से अमरकान्त की रचना दृष्टि और वस्तु-चयन तथा 'दोपहर का भोजन' के माध्यम से उनके व्यंजनाकौशल के बारे में आपने जो जाना है वह 'डिप्टी-कलक्टरी' में और भी सघन तथा जटिल सत्य को सादगी के शिल्प में आकार देता है।

2.4 डिप्टी कलक्टरी : पाठ-बोध और प्रक्रिया

निम्न मध्यवर्गीय विवशताएँ, संकल्प और संघर्ष

'डिप्टी कलक्टरी' भी 'दोपहर का भोजन' के समान एक विपन्न निम्नमध्यवर्गीय परिवार की कहानी है लेकिन एकबहुत महत्वपूर्ण अन्तर के साथ। 'डिप्टी कलक्टरी' के नायक बाबू शकलदीप मुख्तार है। यद्यपि पिछले डेढ़ दो साल से मुख्तारी उनसे चलाए नहीं चलती फिर भी राम का नाम लेकर कचहरी चले जाते, अक्सर कुछ पा जाते, जिससे दो जून का चौका चूल्हा चल जाता। इसके विपरीत 'दोपहर का भोजन' में जो परिवार है उसके स्वामी चंद्रिका बाबू डेढ़ महीने पूर्व मकान-किराया-नियंत्रण विभाग की कलर्की से छँटनी में आजीविका खो चुके हैं। विपन्नता की उस हद पर दोनो जीवन स्थितियों में इतने से फर्क से भी जीवन में एक गुणात्मक अन्तर आ जाता है कि दोनो वक्त चौका-चूल्हा चल जाता है या नहीं। 'दोपहर का भोजन' में बची खुची जमापूँजी को अधिकतम समय तक खींचने की कोशिश में घर के पुरुषों को गिन कर दो रोटियाँ खिलाने की नौबत आ

पहुँची है, जबकि स्वयं गृहस्वामिनी के हिस्से में कुल आधी ही आती है। भय, आशंका और आतंक उसकी स्थायी मनःस्थिति बन चुकी है। बड़े बेटे से डरते डरते वह पूछती है, “वहाँ कुछ हुआ क्या,” और बेटे से एक रूखा नियतिवादी जवाब “समय आने पर सब ठीक हो जाएगा।” पाकर चुप रह जाती है। भविष्य के नाम पर वह एक अंधकारमय शून्य का सामना करता हुआ परिवार है जबकि ‘डिप्टी कलक्टरी’ के शकलदीप बाबू बड़े बेटे से ‘डिप्टी कलक्टरी’ की परीक्षा का फॉर्म भरवा कर भविष्य में निवेश का निर्णय करते हैं। यहाँ आशा है, प्रतीक्षा है, सत्य होने को तत्पर सा प्रतीत होता हुआ स्वप्न है और अन्त में उसका ध्वंस भी।

जनतंत्र का वादा : पृष्ठभूमि और शीर्षक का संकेत

भारतीय प्रशासनिक सेवाओं की चयन प्रतियोगिताएँ आज भी जीवन में प्रवेश करते हुए अधिकांश युवा छात्रों के लिये ‘खुल जा सिमसिम’ जैसा जादुई भविष्य-द्वार है, यद्यपि आज अति-परिचय के कारण कहानी के शीर्षक के संकेत स्वाधीन भारत के छठे सातवें दशक में वैसा सांकेतिक नहीं रह गया है जैसा कहानी के रचना-समय में पचास पचपन वर्ष पहले रहा हो सकता है। तब, अभी स्वाधीन भारत का पहला दशक था। पंचवर्षीय योजनाओं का जादूलोक नवनिर्माण के सपनों का संसार दिखा रहा था। स्वाधीनता मिलने के ठीक पहले तक, अंग्रेजी शासन के तहत डिप्टी कलक्टर की नियुक्ति मनोनीत हुआ करती थी और मनोनयन राजकीय कृपा का मामला था। उसके लिए वंश, जाति, कुलीनता, खानदान, संरक्षण/प्रश्रय इत्यादि निर्णायक तत्व हुआ करते थे। स्वाधीन जनतांत्रिक भारत में अब यह इन तत्वों से मुक्त प्रतियोगिता में अपनी योग्यता से पाई हुई जीत का और प्रशासनिक सेवाओं के उच्चतम स्तर पर पहुँच के रास्ते अपने वर्ग के अतिक्रमण का मामला बन चुका था। शकलदीप बाबू कहते भी हैं, पहले जमाने की बात दूसरी थी, लेकिन आजकल राजा का अर्थ क्या है? डिप्टी कलक्टर तो एक अर्थ में राजा ही हुआ। यह जनतंत्र का सर्व-साधारण मात्र के लिए अवसर की समानता का वादा था। इसी वादे को देखते हुए जनतंत्र/गणतंत्र को गुणतंत्र का नाम दिया जा सकता था।

लेकिन जनतंत्र के वादे की भी असलियत प्रतियोगिता की सीमाओं से निर्धारित होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि योग्यता के अनुसार जो प्राप्य है वह प्रत्येक योग्य व्यक्ति को प्राप्त हो ही जाएगा। क्योंकि प्राप्तव्य की संख्या सीमित है और योग्य जन संख्या उसकी अपेक्षा कहीं अधिक। एक या दो या दस-बीस की गिनती से भी पीछे रह जाने वाले के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह योग्य नहीं था, लेकिन उसकी योग्यता अपना प्राप्तव्य नहीं पाएगी। अपने आप में यह कोई पर्याप्त सात्वना भी नहीं कि सूची में नाम तो आया था बल्कि इसी वजह से यह त्रासदी अधिक करुण और अन्यायपूर्ण सी जान पड़ती है। ‘डिप्टी कलक्टरी’ शीर्षक में कहानी की यात्रा के ये दोनों ही पक्ष समेटे गये हैं।

जीवन में ‘लक्ष्य’ की भूमिका

घटनाक्रम की दृष्टि से नयी कहानी आन्दोलन की अधिसंख्य रचनाओं की तरह इसे भी कथानकविहीन कहा जा सकता है। प्रथम पृष्ठ से अन्तिम पृष्ठ के बीच जिन पात्रों का परिवार-संसार यहां बसाया गया है उसमें घटित क्रिया-कलाप या कार्य-योजना के विकास में इसी स्वप्न में निवेश और आशा तथा प्रतीक्षा की विकास यात्रा प्रस्तुत की गयी है जिसे हम कथानक के विकास के चरणों रूप में पहचान सकते हैं।

कहानी की शुरुआत यहीं से होती है लेकिन शुरु में ही ‘एक घण्टे पूर्व ऐसी बात नहीं थी’ कहकर कहानी को एक साभिप्राय पूर्वाभास और तत्काल-अतीत से सम्बद्धता दी गयी

है। घण्टा भर पहले पति-पत्नी के बीच खासी तेज़ कहासुनी के बाद शकलदीप बाबू घर के बाहर चले गये और घन्टा भर बाद लौटे हैं। बाहर जाने के पहले वे पन्द्रह-बीस मिनट अखबार के फटे पुराने टुकड़े को जमीन से उठाकर पढ़ते रहे। ऐसे छोटे छोटे ब्यूरे अमरकान्त के लेखन-कौशल का अंग है। इनके द्वारा वे स्वयं बिना कोई वक्तव्य दिये, अपने पात्र के क्रिया-कलाप के परिचय से पाइक की कल्पना को उकसा कर पात्र के अनुभव और विचार में शामिल होने के लिये आमन्त्रित करते हैं।

‘अखबार के फटे टुकड़े को पढ़ते रहने’ का मतलब क्या हो सकता है? जाहिर है कि पढ़ने के लिए उसमें कुछ भी नहीं है। उन पन्द्रह बीस मिनटों के भीतर क्या हुआ है? यह आचरण कहासुनी से उत्पन्न क्षोभ और उद्वेग को काबू करने का प्रयास तो था ही, अब घण्टा भर बाद लौट कर जो वे कहते और करते हैं उससे पता चलता है कि वे पन्द्रह बीस मिनट किसी निर्णय पर पहुँच जाने के क्षण भी थे। शकलदीप बाबू का बड़ा बेटा नारायण “पिछले तीन चार वर्ष में बहुत सी परीक्षाओं में बैठने, एम.एल.ए., लोगों के दरवाजों के चक्कर लगाने तथा और भी उल्टे सीधे फन इस्तेमाल करने के बावजूद” अब तक बेरोजगार है। दो बार डिप्टी कलक्टरी की परीक्षा में भी बैठ चुका है। इस वर्ष ‘डिप्टी कलक्टरी की जगहें काफी होने’ के भरोसे वह तीसरी बार भी किस्मत आजमाना चाहता है। शकलदीप बाबू की पत्नी ने उनको टटोलते हुए बात शुरू करके इसी आशय का प्रस्ताव रखा और सूचना दी है कि दो चार दिन में फीस भरने की तारीख निकल जाएगी। पत्नी की यही बात सुन कर शकलदीप बाबू बिगड़ गये हैं, बेटे को भला बुरा कहने और पत्नी द्वारा उसका बचाव सुनने के बाद वे क्रोध की हद पर पत्नी से यह तक कह बैठते हैं कि ‘सारी खुराफात की जड़ तुम्ही हो। तुम मुझे जिन्दा रहने देना नहीं चाहतीं, जिस दिन मेरी जान निकलेगी, तुम्हारी छाती ठण्डी होगी।’

लेकिन घन्टे भर बाद वे अति प्रसन्न भाव से लौटकर पत्नी को फॉर्म भरने की फीस के लिये डेढ़ सौ रुपये देते और कहते हैं “गलती किसी की नहीं। सारा दोष तो मेरा है, देखो न, बाप होकर कहता हूँ कि लड़का नाकाबिल है। नहीं, नहीं, सारी खुराफात की जड़ मैं ही हूँ, और कोई नहीं।”

घण्टे भर पहले का उनका क्रोध अपनी असमर्थता और असहायता तथा बेटे की बेरोजगारी के कारण अपनी असफल प्रत्याशा का नतीजा था। निष्फल, निरुद्देश्य दैनिक जीवन का ढर्रा ऐसी प्रतिक्रियाओं से अपने रोज़मर्रापन का भी अतिक्रमण करता है। मानो यही उसकी घटनात्मकता है। अब ‘डिप्टी कलक्टरी’ के स्वप्न में निवेश के फैसले पर पहुँच कर और डेढ़ सौ के कर्ज से कारवाई का आरंभ करके उन्होंने जीवन में एक मकसद पा लिया है। निरुद्देश्य अभावग्रस्त चिड़चिड़ी दिनचर्या के स्थान पर भविष्य के लिये सोद्देश्य जीवन की आशा और प्रसन्नता की मानसिकता का आगम होता है। उनकी दिनचर्या बदल जाती है। सुबह का आकाश, ठण्डी हवा उनकी अकारण प्रसन्नता के लिये पर्याप्त कारण हो सकते हैं। मुँह अँधेरे उठ कर बेटे को पढ़ते हुए देखना ऐसा लगता है “जैसे किसी आनन्ददायी रहस्य का उन्होंने अचानक पता लगा लिया हो।” इस किस्म के संकेत अमरकान्त की लिखन्त में सादगी के शिल्प को तहदार बनाते तथा गहराई देते हैं। मनुष्य के जीवन का वह आनन्ददायी रहस्य क्या हो सकता है? कि वह सन्तान के माध्यम से अपने आप को, अपने सपनों को जीवित देखे? कि सन्तान के श्रम और संकल्प में अपने और उसके भविष्य के सुख को साकार देखे? कि सन्तान में आत्म-विस्तार देखते हुए अपने बुढ़ापे, जर्जरता और असमर्थता के अहसास से मुक्ति पाए? कि सन्तान के माध्यम से सीमित, संकीर्ण अहं की निराश सीमाओं के बाहर आना सहज संभव पाए? अर्थ की संभावनाएँ अनेक हैं, नतीजा एक ही कि ‘अचानक उनमें न मालूम कहाँ का उत्साह आ

गया' और 'स्नान से निवृत्त होकर जब वह बाहर निकले तो उनके शरीर में एक अपूर्व ताजगी तथा मन में एक अवर्णनीय उत्साह था।'

परीक्षा की तैयारी, परीक्षा देने के लिये प्रस्थान और परीक्षाफल की घोषणा - कहानी में चित्रित अवधि को इन तीन हिस्सों में बाँटा गया है और तीनों के दौरान कहानी के अवधान को शकलदीप बाबू के क्रिया-कलाप और मानसिक व्यवहार पर केन्द्रित रखा गया है। मानो प्रतियोगिता में बैठ तो बेटा रहा है लेकिन परीक्षा पिता की हो रही है उनके आचरण में स्नेह-चिन्ता, सहनशीलता, विनोदप्रियता, आत्म-विज्ञापन की प्रवृत्ति, आस्था और श्रद्धा का जागरण होता है। बेटे की देखभाल के अलावा वे मन्दिर नियमपूर्वक भी जाने लगते हैं और पत्नी से भी प्रार्थना करने को कहते हैं। मकसद पा लेने के बुनियादी कारण जीवन के प्रति राग और आसक्ति उत्पन्न होती है। बार-बार भूख लगती है, चटोरपना जाग्रत होता है। बेहद मेहनत और बदपरहेजी से बीमार भी पड़ते हैं। बेटे की योग्यता और भलमनसाहत का बढ़ चढ़ कर बखान करते हैं, परीक्षा के लिए प्रस्थान करते हुए बेटे को मन्दिर का प्रसाद पकड़ाने के लिए रेलगाड़ी के साथ दौड़ लगाते हैं और अपनी दुर्बलता और प्रयत्न की हास्यास्पदता के बावजूद सफल भी होते हैं। दौड़ का यह दृश्य अमरकान्त के चित्रण— कौशल से एक प्रतीकात्मक अर्थवत्ता ग्रहण कर लेता है - "दुर्बल तथा बूढ़े आदमी थे, इसलिए उनसे तेज़ क्या दौड़ा जाता, वह पैरों में फुर्ती लाने के लिये अपने हाथों को इस तरह भाँज रहे थे, जैसे कोई रोगी मरियल लड़का अपने साथियों के बीच खेलकूद के दौरान कोई हल्की फुल्की शरारत करने के बाद तेजी से दौड़ने के लिये गर्दन को झुका कर हाथों को चक्क की भाँति घुमाता है। उनके पैर थप थप की आवाज के साथ प्लेटफॉर्म पर गिर रहे थे और उनकी हरकतों का उनके मुख पर कोई विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था।"

स्वाधीन भारत का पहला दशक : आशा और विश्वास

अभी तक यह स्वप्न का कल्पित-संभावित पक्ष है। बेटे के पास प्रादेशिक-लोक-सेवा-आयोग से 'इन्टरव्यू-कॉल' आती है तो अन्तिम परिणाम की घोषणा के पहले ही शकलदीप बाबू और उनकी पत्नी की कल्पना संभावना को यथार्थ की तरह बरतने लगती है। कथा के विकास में आशा और प्रतीक्षा का यह अगला चरण है। वे मान ही बैठे हैं कि नारायण डिप्टी-कलक्टर हो ही चुका है। बेहद स्वाभाविक चित्रण में बड़ी सादगी के साथ वे दृश्य अंकित किये गये हैं जिनमें नारायण की पत्नी को डिप्टाइन् कहा जा रहा है, माँ मोटर में घुमाए जाने का वादा याद कर रही है, नारायण की पत्नी सुबह के सपने का जिक्र कर रही है। निम्नमध्यवर्गीय सहज स्वप्नजीविता और उसके सहारे प्राणशक्ति दुहने की क्षमता, स्वप्न में वास करते हुए उसे यथार्थ मान कर रंजन और विनोद का सृजन इस कहानी में चित्रण की स्वाभाविकता और विश्वसनीयता को संभव करते हैं। स्वाधीन भारत के जिस पहले दशक की बात कही जा चुकी है उसकी मानसिकता का चित्र भी एकाध संवाद में लाया गया है। नारायण का चुना जाना निश्चित है इस पक्ष में तर्क देते हुए कहा जाता है कि 'पहले का जमाना होता तो कहा नहीं भी जा सकता लेकिन अब तो बेईमान बेईमानी उतनी नहीं होती होगी', 'बेईमानी नहीं होती न?', 'हाँ, अब उतनी नहीं होती। पहले बात दूसरी थी, जमाना अब लद गया।'

लेकिन स्वाधीनता कोई जादू की छड़ी नहीं है। विदेशी ऋण के सहारे पंचवर्षीय योजनाएँ शुरू की जा चुकी हैं जरूर, जनता से अवसर की समानता का वादा भी किया जा चुका है लेकिन योजनाओं की सफलता अभी परीक्षित होनी बाकी है, ठोस नतीजों के लिये प्रतीक्षा जरूरी है और तभी यह भी पता चलेगा कि योजनाएँ जन की आकांक्षाओं की कसौटी पर खरी उतरेंगी या नहीं।

बेटे की प्रतियोगिता में स्वयं परीक्षा देते हुए शकलदीप बाबू बदपरहेजी और मानसिक तनाव के परिणामस्वरूप बीमार और कमजोर होते जा रहे हैं। किसी अव्यक्त किन्तु व्यंजित समानान्तरता के द्वारा उनके इस संकल्प और संघर्ष को, ताकत और बूते से बढ़ कर किये गये अगली पीढ़ी के भविष्य में निवेश को, और छीजते हुए स्वास्थ्य की कीमत को स्वाधीन भारत में ऋणग्रस्त दीर्घकालिक योजनाओं, प्रतीक्षा में जनता के टूटते हुए दम और ईमानदारी पर छीजते हुए भरोसे के बावजूद आशा में अटकी हुई साँस का प्रतीक बना दिया गया है।

नतीजा निकलता है लेकिन न पूरी तरह से सफल न पूरी तरह से असफल, यह एक स्थगित निर्णय है - “नारायण बाबू का नाम तो अवश्य है लेकिन....जरा नीचे है। दस लड़के लिये जाएँगे, लेकिन मेरा ख्याल है कि उनका नाम सोलहवाँ सत्रहवाँ पड़ेगा, लेकिन चिन्ता की कोई बात नहीं, कुछ लड़के तो कलक्टरी में चले जाते हैं, कुछ मेडिकल में ही नहीं आते, इस तरह पूरी पूरी उम्मीद है कि नारायण बाबू ने ही लिये जाएँगे।” अनिश्चित ही सही, आशा की गुंजाइश अभी बाकी है, प्रतीक्षा और लम्बी खिंच गयी है। विडम्बना है भी और नहीं भी।

मंदिर से निकलते समय परिणाम जानने के बाद घर तक यात्रा में शकलदीप बाबू का जो चित्र कहानी में खींचा गया है वह बरबस रेलगाड़ी के साथ उनकी दौड़ की याद दिला देता है क्योंकि अब यह उसके सर्वथा विपरीत मनःस्थिति की देहभाषा का चित्र है - “वह छड़ी को उठाते गिराते, छाती पर सिर गाड़े तथा शिव का जाप करते, हवा के हल्के झोंके से धीरे धीरे टेढ़े तिरछे उड़ने वाले सूखे पत्ते ही भाँति डगमग-डगमग चले जा रहे थे।”

निराशा में डूबे हुए घर में पहुँचते ही उनकी पहली चिन्ता पत्नी से यह पूछने तथा निर्देश देने की है कि उसने कहीं बेटे को बताया तो नहीं कि उसकी फीस और खाने पीने के लिये छः सौ रुपयों का कर्ज लिया गया है और किसी सूरत में यह बात बेटे को पता न चलने पाए। वे बार बार यह भरोसा भी व्यक्त करते हैं कि भगवान सब कल्याण करेंगे लेकिन इसके बावजूद बेटे के कमरे की तरफ बढ़ते हुए “उनके पैर काँप रहे थे और उनका सारा शरीर काँप रहा था, उनकी साँस गले में अटक अटक जा रही थी।” एकाधिक बार लेखकीय टिप्पणी में शकलदीप बाबू के इस साहस को “बच्चों की तरह” बताया गया है। कभी वह दौड़ते हुए गति में तेजी लाने के लिये बच्चे की तरह हाथ घुमा रहे हैं, कभी भगवान सब कल्याण करेंगे कहते हुए बच्चों की तरह खुश होते हैं। परीक्षाफल के बाद बेटे के कमरे में दाखिल होने के बाद उनके चेहरे पर “अस्वाभाविक विश्वास की मुस्कुराहट” के थिरकने का जिक्र किया गया है। ये सभी प्रयोग कुछ विशिष्ट तथा असामान्य से हैं इसलिये उनमें किसी विशेष अभिप्राय की संभावना सी प्रतीत होती है। शायद यह कुछ अतिरिक्त और आरोपित पाठ हो किन्तु एक वृद्ध में शैशव का उत्साह एक संसाधन-जर्जर पराधीन वृद्ध देश के स्वाधीन शैशव को बिम्बित करता सा दिखता है जो अगली पीढ़ी के रूप में भविष्य के लिये अपना सब कुछ निविष्ट करने को तत्पर है किन्तु इस बात का निश्चय नहीं कि उस निवेश का फल क्या, कब और कैसा होगा। वास्तविकता के साथ शिशु का कोई वास्तविक नाता नहीं इसलिये उसका ‘अस्वाभाविक विश्वास’ भी वस्तुतः स्वाभाविक ही है। भविष्य का जो स्वप्न अभी तक डिप्टी कलक्टरी के राजपाट को निश्चित और वास्तविक की तरह बरत रहा था उसकी परिणति इतने भर

में सान्त्वना पा जाने से होती है कि बेटे की साँस चल रही है, वह सो रहा है। यही चलती हुई साँस प्रतीक्षा और विलम्बित परिणाम के बीच उम्मीद की अटकी हुई डोर है।

शिल्प कौशल

अमरकान्त के शिल्प-कौशल का सोदाहरण विवेचन कथानक के विकास के परिचय और विश्लेषण के साथ साथ किया जाता रहा है। संक्षेप में कहा जा सकता है 'डिप्टी कलक्टरी, सादगी के शिल्प में सरल अभिव्यक्ति की कहानी है किन्तु अपने कथ्य का सरलीकरण नहीं करती।

आदर्श और रुमान से विरक्ति को आधुनिक भावबोध का लक्षण माना जाता है और नयी कहानी के हर अगले दौर के लेखक अपने से तिरछी पीढ़ी के लेखकों को रुमान और आदर्श से ग्रस्त बता कर खुद अधिक आधुनिक होने के दावे को प्रशस्त करते रहे हैं। एकाधिक आलोचक और लेखक ने अमरकान्त की तीनों सर्वश्रेष्ठ कहानियों को रुमानी भावबोध की कहानी माना है लेकिन आधुनिक होने का अर्थ भावशून्य और संवेदनहीन होना नहीं है। रचना के संवेदन-व्यापार में तह-दर उपस्थित वैचारिक परिप्रेक्ष्य और तल में निहित विश्लेषण की भावात्मक परिणति का अर्थ रचना की प्रभावात्मक अन्विति है। साहित्य की प्रासंगिकता और शक्ति का यही रहस्य भी है, उसे कोरा आदर्श और खोखा रुमान कहना गलत है। उसे खोकर साहित्य अपना अस्तित्व और औचित्य खो देगा। अमरकान्त की कहानियाँ इस औचित्य से समन्वित हैं।

अमरकान्त प्रेमचंद की परम्परा का निकटतम अगला विस्तार हैं। कहीं कहीं तो उनकी भाषा में भी प्रेमचंद गूँजते हुए से सुनाई देते हैं। जैसे कि 'डिप्टी कलक्टरी' में ही कहानी की शुरुआत में ही बेटे के प्रति बाबू शकलदीप सिंह के क्रोधमय विस्फोट की भाषा - "फिर इसकी गारण्टी ही क्या है कि इस दफे बाबू साहब ले ही लिये जाएँगे? मामूली ए.जी. ऑफिस की क्लर्क में तो पूछे नहीं गये, डिप्टी कलक्टरी में कौन पूछेगा? आप में क्या खूबी है, साहब, कि आप डिप्टी कलक्टर हो ही जाएँगे? थर्ड क्लास बी.ए. आप हैं, चौबीसो घण्टे मटरगश्ती आप करते हैं, दिन रात सिगरेट आप फूंकते हैं! आप में कौन से सुर्खाब के पर लगे हैं, जनाब? बड़े-बड़े बह गये, गदहा पूछे कितना पानी? फिर करम करम की बात होती है! भाई समझ लो तुम्हारे करम में नौकरी लिखी ही नहीं। अरे हाँ, सभी कुकुर काशी ही सेवेंगे तो हंडिया कौन चाटेगा? डिप्टी कलक्टरी, डिप्टी कलक्टरी! सच पूछो तो डिप्टी कलक्टरी नाम से ही मुझे घृणा हो गयी है!"

इस चरम नकार से शुरू करके कहानी कदम दर कदम बढ़ते हुए अन्त के चरम सकार का एक रहस्य की तरह अन्वेषण करती है, पिता और पुत्र के सम्बन्ध में अतीत और भविष्य के सम्बन्ध का अर्थ आरोपित करती है और इस जटिल विकास को परम सादगी के शिल्प में सहज भाव से उपस्थित कर देती है।

2.5 सारांश

नयी कहानी आन्दोलन अनेक प्रवृत्तियों का एक समुच्चय है जिसमें संवेदना की दृष्टि से गाँव, शहर, प्रतिबद्ध, स्वतंत्र, वस्तुगत, आत्मगत आदि अनेक विशेषण उपस्थित हैं। इसमें अमरकान्त की उपस्थिति विशिष्ट है। वे शहरी संवेदना के कथाकार होते हुए भी अकेलेपन, संत्रास और ऊब के प्रचलित अर्थ वाली शहरी संवेदना से भिन्न विषयवस्तु के

कथाकार हैं। उनकी कहानी नेहरूयुग की स्वप्नदर्शी मानसिकता से प्रेरित सकारवादी मानसिकता की अभिव्यक्ति है। 'डिप्टी कलक्टरी' इसकी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है।

2.6 अभ्यास

1. नयी कहानी आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बताईए।
2. नयी कहानी आंदोलन के प्रमुख रचनाकारों की चर्चा कीजिए।
3. नयी कहानी की विविध धाराओं में अमरकान्त का विशेष महत्व है। अमरकान्त के कहानी लेखन के द्वारा स्पष्ट कीजिए।
4. 'डिप्टी कलक्टरी' कहानी की कथावस्तु पर प्रकाश डालिए।
5. 'डिप्टी कलक्टरी' कहानी के शिल्प पर टिप्पणी लिखिए।
6. अमरकान्त की 'डिप्टी कलक्टरी' प्रतीक्षा, मोहभंग और हताशा की कहानी है। सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।



इकाई 3 बदबू : विश्लेषण और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 लेखक का परिचय
- 3.3 नई कहानी आन्दोलन
- 3.4 शेखर जोशी की कहानियाँ और नई कहानी
- 3.5 शेखर जोशी की आंचलिक दृष्टि
- 3.6 बदबू : पाठ-बोध और प्रक्रिया
- 3.7 बदबू : पाठ के बाद
- 3.8 बदबू : भाषा-शैली
- 3.9 सारांश
- 3.10 अभ्यास

3.0 उद्देश्य

यह एम.ए. हिन्दी के द्वितीय वर्ष के कहानी से सम्बन्धित माड्यूल के पाठ्यक्रम 'हिन्दी कहानी' से सम्बन्धित प्रथम खण्ड की तीसरी इकाई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप नई कहानी आंदोलन के एक महत्वपूर्ण लेखक के रूप में शेखर जोशी की कहानियों से परिचय प्राप्त करेंगे। इनकी एक सशक्त कहानी 'बदबू' पाठ हेतु आपके सामने है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- नई कहानी आंदोलन की पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी।
- नई कहानी आंदोलन और शेखर जोशी की कहानियों से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी।
- शेखर जोशी की आंचलिक दृष्टि से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी।
- 'बदबू' कहानी के माध्यम से जिजीविषा की तलाश का संदर्भ जान सकेंगे/सकेंगी।
- 'बदबू' में अभिव्यक्त औद्योगिक जीवन के संदर्भों की पड़ताल कर सकेंगे/सकेंगी।
- 'बदबू' कहानी के आधार पर शेखर जोशी की विशिष्ट शैली से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी।

3.1 प्रस्तावना

शेखर जोशी ने जब 1953 में पहली कहानी 'दाज्यू' लिखी तो वह देश की स्वाधीनता के बाद पहले आम चुनावों से चुने गए जनप्रतिनिधियों से बनी संसद का पहला साल था। उन्होंने देश की आज़ादी के लिए होने वाले संघर्षों को देखा था। इन संघर्षों के बाद मिली आजादी और उससे जुड़े सपनों के लाल डोरे उनकी आँखों में थे। अपना राज मिलते ही सब कुछ बदल जाने की उम्मीद उस समय हर भारतवासी के मन में थी। जनता की आकांक्षाएँ और अपेक्षाएँ बहुत बढ़ गई थीं। लेकिन रातोंरात सब कुछ बदलने वाला नहीं

था। निपट गरीबी, दैन्य और मानवीय शोषण का जाल टूट नहीं रहा था। भ्रष्टाचार दस्तक दे चुका था और सामंती एवं रूढ़िवादी मान्यताओं से मुक्ति नहीं मिल पा रही थी। सत्ता का केन्द्रीकरण बढ़ रहा था और अभिजात्य वर्ग की सत्ता में भागीदारी बराबर बनी हुई थी। स्वराज मिल जाने के बाद भी सुराज की संकल्पना अधूरी थी।

ऐसे माहौल में जनता की आकांक्षाओं की टूटन स्वाभाविक थी। गरीबी, भूख और उनसे संघर्ष करते हुए आमजन का मोह सत्ता से तेजी से भंग हो रहा था। फिर भी स्वातंत्र्योत्तर भारत में सामाजिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों से युवा वर्ग ख़ास तौर से उत्साहित था। पंचवर्षीय योजनाएँ आरम्भ हुईं और औद्योगीकरण की प्रक्रिया चल पड़ी। भ्रष्टाचार के बावजूद सड़कें बनीं, पुल बने, नये विद्यालय खुले और तमाम विभागों की शुरुआत हुई। साम्प्रदायिक संदर्भ पीछे छूटने लगे और शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने लोगों में पढ़ने-लिखने का उत्साह जगाया। लोग नौकरी के लिए देश के किसी भी कोने में जाने लगे। नवीनता का आग्रह बढ़ने लगा। साहित्य के क्षेत्र में कविता, कहानी समेत तमाम विधाओं में नयापन आया। पचास का दशक कहानी की धारा के बदलने का समय बन गया। नई कहानी आंदोलन इसी दशक में शुरू हुआ। शेखर जोशी इसी दौर के प्रतिनिधि कहानीकार हैं। स्वाभाविक है कि वे अपने युगीन संदर्भों से पूरी शिद्दत से जुड़े रहे। पहाड़ की संस्कृति उनके मन में रची-बसी थी लेकिन नौकरी के लिए पहले उन्हें दिल्ली फिर इलाहाबाद में रहना पड़ा। कारखाने में काम करने के दौरान मिले अनुभव ने ही 'बदबू' जैसी कहानी लिखने की आधार भूमि तैयार की।

3.2 लेखक का परिचय

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक के प्रारम्भ में अल्मोड़ा जनपद के एक छोटे से गाँव - ओलिया में एक किसान परिवार में शेखर जोशी का जन्म हुआ था। उन्हें किस्सागोई की मौखिक परंपरा अपने गाँव से ही मिली थी। जाड़े की ठंडी बर्फीली रातों में पहाड़ की एकांतिक जिन्दगी किस्से-कहानियों के कहने-सुनने से बीतती थी। ठंड से बचने के लिए जलाई गई अँगीठी के चारों ओर बैठकर बड़े-बुजुर्गों से किस्से सुनना वहाँ के जीवन की एक अनिवार्यता थी। शाम ढलने के बाद पहाड़ की उदासी और अकेलेपन की रिक्ति को ये कहानियाँ भरती थीं। शेखर जोशी को पढ़ने-लिखने का माहौल अपने ननिहाल में दिखता था जहाँ उनके मँझले मामा लेखन कर्म में व्यस्त रहने वाले व्यक्ति थे और उन्हें समाज में लोगों का सम्मान भी मिलता था। शेखर जोशी जी का परिवार परंपरागत परिवार था इसलिए उनके घर में धार्मिक ग्रंथ ही अधिक थे। संस्कारों के अवसर पर होने वाले कार्यक्रमों के गीत-संगीत, किस्से शेखर जोशी को बहुत अच्छे लगते थे। श्रमगीतों से भी पहाड़ गूँजते रहते जिनमें वहाँ के जन-जीवन की उमंग एवं कठिनाई का वर्णन होता। शेखर जोशी का पूरा परिवेश प्राकृतिक सौन्दर्य, गीत-संगीत और सांस्कृतिक गतिविधियों से सम्पन्न था।

लेकिन यह आधा सच है। पहाड़ों पर एक और जिन्दगी भी थी जो गरीबी, अभाव और संघर्ष से भरी पड़ी थी। यह समाज का असली चेहरा था। इससे साहित्य अछूता नहीं था। यह वह समय था जब यथार्थ को केन्द्र में रखने वाले साहित्यकारों गोर्की, राहुल सांकृत्यायन, प्रेमचंद और यशपाल की धूम थी। उनकी रचनाओं ने शेखर जोशी को परम्परागत रूढ़िवादी मान्यताओं से मुक्ति दिलाई। छोटी उम्र में ही मातृविहीन हो जाने के बाद इन्हें राजस्थान जाना पड़ा। अजमेर में इन्होंने शिक्षा भी ग्रहण की। कहाँ प्रकृति के सौन्दर्य से भरा पर्वतीय अंचल और कहाँ रेतीला राजस्थान! अपने परिवेश से कट जाने की पीड़ा ने उनकी संवेदना की धार तेज कर दी। यहीं उनके भीतर के कहानीकार का

जन्म हुआ। 1951 में जब वे सुरक्षा विभाग में अप्रेंटिसशिप करने दिल्ली आए तो यहाँ उनकी भेंट प्रगतिशील लेखकों, ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं और पत्रकारिता जगत के लोगों से हुई। 1955 में वे दिल्ली से इलाहाबाद आ गए और अब भी वहीं रहते हैं। यहाँ उनका संपर्क वरिष्ठ और समकालीन लेखकों से हुआ। इलाहाबाद सदैव गहरी साहित्यिक सरगर्मियों का शहर रहा है और, पचास का दशक तो इलाहाबाद में ‘नई कविता’ और ‘नई कहानी’ के शुरुआत का समय था। ‘प्रगतिशील’ और ‘परिमल’ खेमों की प्रतिस्पर्धा चरम पर थी। भैरव प्रसाद गुप्त के संपादन में निकलने वाली ‘कहानी’ पत्रिका के माध्यम से कहानी प्रमुख साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो रही थी। कहानी में आंचलिक, ग्रामीण, कस्बाई और शहरी संदर्भ अपने-अपने तरीके से जगह बना रहे थे। ऐसे माहौल में शेखर जोशी का पहला कहानी संग्रह ‘कोसी का घटवार’ 1958 में प्रकाशित हुआ। ‘साथ के लोग’, ‘हलवाहा’, ‘मेरा पहाड़’, ‘नौरंगी बीमार है’ और ‘एक पेड़ की याद’ उनके अन्य कहानी संग्रह हैं।

3.3 नई कहानी आन्दोलन

नई कविता के जोर पकड़ने पर कहानी में भी नये शिल्प और संवेदना के साथ आने वाले कहानीकारों ने कहानी को नई कहानी कहना आरम्भ किया। नामवर सिंह अपनी पुस्तक कहानी: नई कहानी में लिखते हैं, ‘कहानी की चर्चा में अनायास ही ‘नई कहानी’ शब्द चल पड़ा है और सुविधानुसार इसका प्रयोग कहानीकारों ने भी किया है और आलोचकों ने भी.....?’ मोटे तौर पर सन् 1954 से नई कहानी के संकेत मिलने लगते हैं। जैनेन्द्र कुमार, यशपाल, अज्ञेय, भगवती चरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अशक जैसे लेखक 1954 तक पहुँचते-पहुँचते कमजोर पड़ने लगते हैं। उसके बाद या तो इनकी कमतर कहानियाँ आई या इन्होंने चुप्पी साध ली। पुरानी पीढ़ी की जगह लेने को नई पीढ़ी तैयार थी। भैरव प्रसाद गुप्त के संपादन में प्रकाशित ‘कहानी नव वर्षाक-1956’ का नई कहानी की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व है। यह प्रकाशन कहानी के नवजागरण की नींव था। इसी में पहली बार स्पष्टतः प्रश्न के रूप में ‘नई कहानी’ की बात उठाई गई। ‘संकेत’, ‘हंस’ और ‘निकष’ जैसे महत्वपूर्ण साहित्यिक संकलनों के प्रकाशन भी इसी समय हुए। मोहन राकेश, मार्कण्डेय, हरिशंकर परसाई, निर्मल वर्मा, अमरकांत, शिव प्रसाद सिंह, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, फणीश्वर नाथ रेणु, रघुवीर सहाय, मनोहर श्याम जोशी, राजेन्द्र किशोर के साथ-साथ रांगेय राघव, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी और उषा प्रियंवदा के नाम कहानी की दुनिया में जाने-पहचाने नाम बन गए। इन्हीं नामों में एक महत्वपूर्ण नाम और भी था - शेखर जोशी।

वर्ष 1957 के दिसम्बर महीने में इलाहाबाद में हुए साहित्यकार सम्मेलन में पठित आलेखों में ‘नई कहानी’ शब्द का प्रयोग किया गया। यद्यपि इसी सम्मेलन में ‘ग्राम कथा बनाम नगर कथा’ की बहस भी छिड़ी। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर शहरी संदर्भों को लेकर लिखने वाले कहानीकारों में सबसे आगे थे। वहीं अमरकान्त, रेणु, मार्कण्डेय और शेखर जोशी ग्राम या कस्बे की समस्या को तरजीह दे रहे थे। मध्यवर्गीय और आंचलिक संदर्भ इनके लिए महत्वपूर्ण थे। प्रेमचंद की परम्परा भी इन्हीं कहानीकारों में शेष थी। लेकिन इन सब से समृद्धि हुई तो कहानी विधा की ही। ‘डिप्टी कलक्टरी’, ‘राजा निरबंसिया’, ‘कोसी का घटवार’, ‘पान-फूल’, ‘जहाँ लक्ष्मी कैद है’ जैसी तमाम अविस्मरणीय कहानियाँ लिखी गईं।

नई कहानी में कथ्य, संवेदना और संरचना तीनों स्तरों पर परिवर्तन दिखाई देता है। आदर्शों या विचारों के आधार पर कहानी लिखना दूर की बात हो गई। कहानीकार के

लिए 'व्यक्ति' और 'समाज' महत्वपूर्ण हो गए। व्यक्ति को उसकी समग्रता में देखने का आग्रह बढ़ा। समकालीन संदर्भों के दबाव जब बढ़ जाते हैं तो लेखक को भी वर्तमान पर केन्द्रित होना पड़ता है। नई कहानी के दौर का वर्तमान आकर्षक था, नया था किन्तु विसंगतियों और विद्रूपताओं से भी भरा था। आज़ादी के बाद का आकर्षण तेजी से घटने लगा था क्योंकि उम्मीदें टूट रही थीं और संघर्ष बढ़ते जा रहे थे। शिक्षा और रोजगार के लिए संघर्ष, बेरोजगारी से उपजी निराशा, कर्म और फल के अनुचित संबंधों की मूल वजह भ्रष्टाचार का युगधर्म बनते जाने पर उसके प्रति उदासीनता, भ्रष्टाचार का उन्मूलन असंभव मानकर उसकी सामाजिक स्वीकृति, समाज की वर्जनाओं और निषेधों के कारण प्रेम संबंधों की असफलता इस समय की कहानियों के मुख्य कथ्य थे। वर्तमान से मोहभंग हो जाने के कारण पीड़ा और प्रतीक्षा बढ़ती जा रही थी। अमरकांत की 'डिप्टी कलक्टरी' प्रतीक्षा, मोहभंग और हताशा की कहानी है तो निर्मल वर्मा के 'परिदे' में भी प्रतीक्षा का स्वर गहरा है।

इसी समय भौतिकता की चकाचौंध में घर-परिवार के परंपरागत रिश्तों में बढ़ती हुई छीजन को संवेदना के धरातल पर रखकर देखने और उन्हें पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास दिखा जिसने हिन्दी कहानी के कथ्य और संवेदना को जबरदस्त विस्तार दिया। भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' ऐसी ही एक कहानी है जिसमें बूढ़ी और उपेक्षिता माँ का चरित्र परम्परा से जुड़कर महत्वपूर्ण बन जाता है। शिव प्रसाद सिंह की 'दादी माँ' और मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा' भी बूढ़े पात्रों के माध्यम से परंपरा से जुड़ने का सकारात्मक संदेश देती हैं। संवेदना की गहरी समझ ने नई कहानी के लेखकों की संख्या बढ़ाई तो नई कहानी का रचना संसार व्यापक और वैविध्यपूर्ण हो चला। यही वह समय है जब समाज में स्त्री की बदलती हुई स्थिति के कारण कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी और उषा प्रियंवदा जैसी लेखिकाएँ आयीं जिन्होंने हिन्दी कहानी में स्त्री के जीवन और उसकी समस्याओं को प्रामाणिक और विश्वसनीय अभिव्यक्ति दी।

लेखन में बोध और संरचना का रिश्ता गहरा होता है। कथ्य और संवेदना के बदलाव से कहानी के संरचना पक्ष में बदलाव आना स्वाभाविक था। कहानी की अन्तर्वस्तु बदली तो भाषा का बदलाव लाजिमी था। आंचलिक कहानीकारों ने इसमें विशेष भूमिका निभाई। आंचलिक कहानियों में उस अंचल या क्षेत्र विशेष की भाषा, उसके मुहावरे हिन्दी में अलग भाषिक संरचना का विकास करते हैं। यद्यपि इस प्रकार की भाषिक संरचना की अपनी सीमाएँ थीं, इसीलिए आंचलिक कहानियों से इतर अन्य कहानियों में सहज भाषा ही मिलती है। हाँ, कहानी की अंतर्वस्तु की आवश्यकताओं के अनुरूप भाषा के प्रति लेखकों में सजगता अवश्य दिखायी देती है। इसके लिए वे संकेतों, बिम्बों और प्रतीकों का इस्तेमाल करने में भी नहीं चूकते। भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' का संकेत माँ के चरित्र के माध्यम से तो अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन' का संकेत अभावग्रस्त घर की एक साधारण सी दोपहर के वर्णन मात्र से होता है। 'दोपहर का भोजन' में अभाव के सतत विद्यमान परिवेश का मार्मिक विधान बिम्बात्मक है - 'सारा घर मक्खियों से भन-भन कर रहा था। आँगन की अलगनी पर एक गंदी साड़ी टँगी थी जिसमें पैबन्द लगे हुए थे ।'

3.4 शेखर जोशी की कहानियाँ और नई कहानी

शेखर जोशी का पहला कहानी संग्रह 'कोसी का घटवार' 1958 ई. में प्रकाशित हुआ था। बीस साल बाद उनका दूसरा कहानी संग्रह 'साथ के लोग' 1978 में प्रकाशित हुआ। स्पष्ट है कि नई कहानी आंदोलन के दौर में प्रकाशित उनका एकमात्र कहानी संग्रह है 'कोसी

का घटवार’। इसमें दस कहानियाँ संकलित थीं - ‘दाज्यू’, ‘पद्मा की कहानी’, ‘किं करोमि जनार्दन’, ‘कोसी का घटवार’, ‘उस्ताद’, ‘जी-हजूरिया’, ‘बदबू’, ‘कविप्रिया’, ‘शुभो दीदी’ और ‘बंद दरवाजे : खुली खिड़कियाँ’। इन कहानियों का वस्तुगत विभाजन करने पर इन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

1. पहाड़ी जीवन पर आधारित कहानियाँ - ‘दाज्यू’, ‘पद्मा की कहानी’, ‘किं करोमि जनार्दन’ और ‘कोसी का घटवार’।
2. मजदूरों के जीवन पर आधारित कहानियाँ - ‘उस्ताद’, ‘जी-हजूरिया’ और ‘बदबू’।
3. मध्यवर्गीय पारिवारिक स्थितियों पर आधारित कहानियाँ - ‘कविप्रिया’, ‘शुभो दीदी’ और ‘बंद दरवाजे : खुली खिड़कियाँ’।

उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि शेखर जोशी में अपने परिवेश के प्रति सजगता है। नयी कहानी में जिस प्रामाणिकता और अनुभव के अपनेपन की बात होती है, वह शेखर जोशी के यहाँ मौजूद है। शेखर जोशी की रचना-वस्तु को ‘भोगा हुआ यथार्थ’ कहा जा सकता है। यही भोगा हुआ यथार्थ नई कहानी की पारिभाषिक शब्दावली रहा है। अल्मोड़ा के प्राकृतिक अंचल में जन्में शेखर जोशी को पहाड़ी जीवन विरासत में मिला था। वे उस जन-मन से जुड़े थे। बाद में कारखाने में काम करते हुए मजदूरों से भेंट हुई तो वे उनके जीवन के अभिन्न अंग बन गए। यहीं उनकी भेंट ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं से हुई थी। अपने साथी कामगारों के परिवारों के साथ रहते हुए मध्यवर्गीय पारिवारिक स्थितियों को उन्होंने देखा, जाना और जिया था। ये सारे संदर्भ उनकी कहानियों की कथावस्तु बनकर आए। आकाशवाणी इलाहाबाद से प्रसारित अपने एक संस्मरण में उन्होंने कहा था- ‘समझ विकसित होने पर अपने निजी अनुभवों को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने की प्रक्रिया आरम्भ होने के कारण जब मैंने 1953-54 में ‘दाज्यू’ कहानी लिखी तो उसका नायक मेरा ही प्रतिरूप था जो अपने परिवेश से विस्थापित होकर अपरिचितों की भीड़ में किसी आत्मीय को खोज रहा था, लेकिन सामाजिक यथार्थ ने उसे अहसास करा दिया था कि आत्मीय संबंधों के मूल में भी वर्गस्वार्थ होते हैं जो मानवीय संबंधों में दरार डाल देते हैं।

जिन्दगी की दौड़ में फिर कई उतार-चढ़ाव आए। मेरे जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग कारखानों में बीता है, जहाँ तेल और कालिख से सने कपड़ों में ऐसी विभूतियाँ छिपी थीं जिन्होंने मेरी जिन्दगी को एक नया ही अर्थ दे दिया। यह मेरा एक आत्मीय संसार बन गया। हमारी रचनात्मकता, हमारे संघर्ष, हमारी खुशी और हमारा दर्द सब साझा था। यहीं मुझे ‘उस्ताद’ मिले जो न चाहते हुए भी अंतिम क्षणों में अपने शागिर्द को काम का गुर सिखाने को मजबूर थे, यहीं हाथों की ‘बदबू’ में मैंने जिजीविषा की तलाश की, ... यहीं विरोध की आखिरी चिंगारी लिये ‘जी हजूरिया’ किस्म के लोग थे . . . इन सबको अपनी कहानियों में अंकित कर पाया।’ (डांगरी वाले, कहानी संग्रह, पृ. 10-11)।

शेखर जोशी के कथन से स्पष्ट है कि उनकी कहानियाँ उनके जीवन के संदर्भों से जुड़ी हैं और इन कहानियों का फलक विस्तृत होकर नई कहानी के वैचारिक आग्रह और उसकी सामाजिक चेतना को संबल प्रदान करता है। उनकी कहानियों में सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन की आकांक्षा स्पष्ट है। ‘दाज्यू’ एक भोले-भाले पहाड़ी लड़के की कहानी है जो मैदान में आकर एक होटल में बेयरा बन जाता है। ‘पद्मा की कहानी’ में दो पहाड़ी परिवारों की स्पर्धा की शिकार पद्मा के माध्यम से उस ओछी और हीन मनोवृत्ति को उद्घाटित करने की कोशिश की गयी है, जो स्त्री को लेकर स्कैंडल बुनने में अपनी सानी नहीं रखती। ‘किं करोमि जनार्दन’ में व्यंग्य का पुट है जिसमें विवाह के अवसर पर ढोंग करते हुए लड़के वाले लड़की वालों द्वारा दिए गये धन को लेने का कोई मौका नहीं

छोड़ते। 'कोसी का घटवार' एक प्रेम कहानी है जिसमें गुसाई और लछमा के माध्यम से शेखर जोशी ने प्रतीक और बिम्ब के वे सारे विधान किये हैं जिनके लिए नई कहानी जानी जाती है। 'जी- हजूरिया' में गनपत के चरित्र की नाटकीय परिणति है तो 'उस्ताद' में मध्यवर्गीय संस्कारों की छाप है। 'बदबू' कारखाने में काम करने वाले नौजवान की कहानी है। यहाँ 'बदबू' महसूस न करने वाले लोग हैं तो 'बदबू' को न भूलने वाला नौजवान भी है। 'कविप्रिया' का गिरीश ईमानदार और प्रतिभाशाली व्यक्ति है लेकिन प्रतिभा के भटकाव से उसके प्रति लोगों की उदासीनता बढ़ जाती है और वह एक करुण प्रतीक बनकर रह जाता है। 'शुभो दीदी' कहानी विवाह के बाद शुभा के पति विशु बाबू का घर के बाहर ताला लगाकर दफ़्तर जाना और घर में शुभा का अकेले रहते हुए करुण अंत होना, स्त्री-पुरुष संबंधों में स्त्री की स्थिति को बेबाकी से प्रस्तुत करती है। 'बंद दरवाजे: खुली खिड़कियाँ' निम्न मध्य वर्ग से उच्चतर वर्ग में जाने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति की इच्छा, उसकी कोशिशों और नाकामियों को व्यंग्य के साथ उभारती है।

इन दस कहानियों की अति संक्षिप्त चर्चा से स्पष्ट है कि नई कहानी के युगीन संदर्भ शेखर जोशी की कहानियों में मौजूद हैं।

3.5 शेखर जोशी की आंचलिक दृष्टि

आप जान चुके हैं कि शेखर जोशी को पहाड़ी जीवन से कितना लगाव है। उनकी आरंभिक चार कहानियाँ - 'दाज्यू', 'पद्मा की कहानी', 'किं करोमि जनार्दन' और 'कोसी का घटवार' पहाड़ी जीवन को लेकर लिखी गई कहानियाँ हैं। 'किं करोमि जनार्दन' विवाह संस्था में घुस आए दहेज के दानव की ओर संकेत करती है। लड़के वाले चाहे जितना ढकोसला करें कि वे तो बीतराग हैं, निष्पृह हैं लेकिन कभी पारिवारिक जिम्मेदारियों के नाम पर तो कभी झूठी शान के नाम पर भोज की तफसील देने और दक्षिणा के बहाने लड़की वालों से धन उगाह लेने में पीछे नहीं रहते। यह रोग मैदान और पहाड़ सब जगह व्याप्त हो गया है। 'पद्मा की कहानी' पहाड़ी परिवारों की स्पर्द्धा की कहानी है। कहानी का 'मैं', कुमार पद्मा को लेकर कहानी लिखने के लिए प्रमोद से पेशगी में रुपये लेता है लेकिन वह पद्मा पर कहानी लिखने में अपने आप को असमर्थ पाता है और प्रमोद के पेशगी के रुपये में लौटा देता है। क्योंकि वास्तविकता जान लेने के बाद कहानी का कथानक बदलना निश्चित था और उसमें प्रमोद को कोई दिलचस्पी नहीं होती। स्त्री को लेकर कहानियाँ गढ़ने वाली मनोवृत्ति का चित्रण यहाँ बेबाकी से किया गया है। इन दोनों कहानियों के माध्यम से उन तमाम विकृतियों की चर्चा की गई है जिनसे अभी पर्वतीय समाज अछूता माना जाता था, लेकिन पर्वतीय अंचल की विशेषताओं को संपूर्णता के साथ प्रकट करने वाली दो महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं - 'दाज्यू' और 'कोसी का घटवार'। इन दोनों कहानियों में शेखर जोशी की आंचलिक दृष्टि उभरकर सामने आती है।

'दाज्यू' में एक जबर्दस्त आंचलिक मोहकता है। 'दाज्यू' के बहाने शेखर जोशी आंचलिक अस्मिता में उपस्थित दारुणता को तलाशते हैं और दारुणता से आगे बढ़कर महानगरीय श्रम-संस्कृति की सृष्टि करते हैं। बड़े साइन बोर्ड वाले छोटे कैफे में काम करने वाले नौ वर्षीय पहाड़ी लड़के के 'दाज्यू' संबोधन में उसकी आंचलिक अस्मिता है। 'दाज्यू' न कहने में आंचलिक अस्मिता के खो जाने की पीड़ा है, तिरस्कार है, जिसका वह अनुभव ही नहीं करता उस अलगाव और निर्वासन को जीता भी है। भाषा आंचलिक अस्मिता की सबसे प्रामाणिक वाहिका होती है। 'दाज्यू' कहानी में मात्र इस शब्द के प्रयोग से पूरा अंचल उभर आता है - "जगदीश बाबू के चेहरे पर पुती हुई एकाकीपन की स्याही दूर हो

गई और जब उन्होंने मुसकराकर मदन को बताया कि वे भी उसके निकटवर्ती गाँव के रहने वाले हैं तो लगा जैसे प्रसन्नता के कारण अभी मदन के हाथ से ट्रे गिर पड़ेगी। उसके मुँह से शब्द निकलने चाह कर भी न निकल सके। खोया-खोया सा वह मानो अपने अतीत को फिर-फिर लौटकर देखने का प्रयत्न कर रहा हो।” अतीत गाँव ऊँची पहाड़ियाँ नदी ईजा (माँ) बाबा दादी भुलि (छोटी बहन) दाज्यू (बड़ा भाई)। अपने संबंध यानी अपनेपन का बोध।

जगदीश बाबू मदन के लिए ‘दाज्यू’ हो गए। लेकिन यह आंचलिक अस्मिता जगदीश बाबू के लिए दुरुह होने लगी। वे उससे अपने को अपमानित महसूस करने लगे। आंचलिक अस्मिता और नगरीय बन्तूपन की टकराहट में जगदीश बाबू ‘शाब’ बन गये। मदन नामविहीन होकर ‘बॉय’ बन गया। अब वह एक व्यक्ति नहीं एक वर्ग है। ‘बॉय कहते हैं शाब मुझे।’ लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में आंचलिक अस्मिता पर शर्मिन्दा होने वाले जगदीश बाबू ही अन्ततः अस्मिता क्षेत्र से निष्कासित होते हैं। नौ वर्ष का पहाड़ी लड़का जगदीश बाबू को अहसास करा देता है कि अपनी आंचलिक संस्कृति से आप वंचित हो गए हैं, मैं नहीं। अगर आप ‘दाज्यू’ नहीं तो - हमारा आपका संबंध नहीं।

आंचलिकता के केन्द्र में भाषा और संस्कृति के महत्व का सर्वाधिक प्रामाणिक अंकन है यह कहानी।

‘कोसी का घटवार’ में प्रेम कथा के माध्यम से आंचलिक संदर्भों को अभिव्यक्ति दी गई है। पर्वतीय विस्तार, उसमें अकेलेपन की स्थिति, सूनेपन में चक्की की आवाज़- सब मिलकर एक बेहद एकाकी जीवन जी रहे गुसाईं के चरित्र को करुण चरित्र बना देते हैं। लेकिन गुसाईं के मन का काइयाँपन भावुकता को पीछे छोड़ देता है। पिसान के लिए आए हुए व्यक्ति को लौटा देने में वह चूकता नहीं। यद्यपि बाद में थोड़ा पछतावा उसे इसलिए होता है कि पिसान तो अधिक था ही अगर वह व्यक्ति आ गया होता तो थोड़ी देर बात करने का मौका मिल जाता। दो-चार क्षण की बात-चीत भी उसके लिए बहुत होती। ‘कभी-कभी गुसाईं को यह अकेलापन काटने लगता। सूखी नदी के किनारे का यह अकेलापन नहीं, जन्दगी भर साथ देने के लिए जो अकेलापन उसके द्वार पर धरना देकर बैठ गया है, वही। जिसे अपना कह सके ऐसे किसी प्राणी का स्वयं उसके लिए नहीं है, पालतू कुत्ते-बिल्ली का स्वर भी नहीं।’ (कोसी का घटवार)

बाहर बहती कोसी की सूखी धारा की तरह सूनेपन में जी रहे गुसाईं को लछमा का आना अच्छा लगता है। शरीर पर पिसान की सफेदी लपेटे वह उसे भी पिसान का टीला दिखाकर अपनी असमर्थता प्रकट करता है और लछमा लौट पड़ती है। पहले तो वह उसे रोकता नहीं लेकिन लछमा जब नदी के किनारे पहुँच चुकी होती है तब वह पुकार उठता है - ‘लछमा!’ लछमा देखती है कि यह तो उसका पूर्व परिचित गुसाईं ही है। लछमा और गुसाईं का अतीत, लछमा के पति की मृत्यु के बाद उसकी वापसी, कोसी की धारा की तरह गुसाईं का निपट अकेलापन सब मिलकर गुसाईं और लछमा के जीवन में व्याप्त सूनेपन के साथ उस पूरे अंचल के एकाकीपन को बयान करते हैं। कहानी पढ़ते हुए आँखों के सामने पहाड़ का पूरा जीवन नाच उठता है।

स्पष्ट है कि शेखर जोशी पूरी खामोशी से सब कुछ कह देते हैं। प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से वे ऐसे वातावरण का सृजन करते हैं जिसमें पूरा वातावरण ही अंचल की अभिव्यक्ति बन जाता है। रचना-वस्तु का संयत उपयोग और अभिव्यक्ति के माध्यमों का संतुलन कहानी को महत्वपूर्ण बना देता है। बिना किसी आवेग के कहानी मंथर गति से चलती हुई तृप्ति और संतोष देती है।

3.6 बदबू : पाठ-बोध और प्रक्रिया

‘बदबू’ एक कारखाने में काम करने वाले लोगों की जिन्दगी पर आधारित कहानी है। इस कारखाने में काम करने वाले मजदूर, मिस्त्री, सर्वमैन, फोरमैन, चौकीदार और साहब - सभी हैं। कारखाने में काम करने वाले मजदूरों की जिन्दगी, उनके हास-परिहास, उनके परिवारों की स्थिति सभी का अंकन शेखर जोशी कुशलता से करते हैं। व्यवस्था का दमन, उसके प्रति प्रतिकार का प्रयास, प्रतिकार को कुचल देने हेतु व्यवस्था का कुचक्र और अंततः सबल व्यवस्था में प्रतिकारी के अकेले रह जाने की नियति ने कहानी को औद्योगिक जीवन पर लिखी गई अद्भुत कहानी बना दिया है। ‘बदबू’ जिजीविषा और संघर्ष की प्रतीक है। जब तक वह महसूस हो रही है, संघर्ष की गुंजाइश है, जीवन की संभावना है, मानवीय संवेदना के बचे रहने का संकेत है। किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था इस तरह से पीस देती है कि ‘बदबू’ होते हुए भी कारखाने के लोगों को ‘बदबू’ महसूस नहीं होती। वे व्यवस्था के क्रीतदास, वस्तु या कामकाजी जानवर में तब्दील हो जाते हैं। अगर संवेदना थोड़ी-बहुत बची भी हो तो वे उसे पेट, परिवार और बच्चों के नाम पर मार देने को अभिशप्त हैं। कारखाने के बंद दरवाजे के भीतर वे इतने परवश हैं कि उसका असर उनकी साँसों में घुल-मिल गया है। उन्हें कहीं ‘बदबू’ महसूस नहीं होती। वे बंद दरवाजे के बाहर भी असहाय हैं। व्यवस्था के गुप्तचर उनके आस-पास हैं, उनके बीच हैं, इसलिए वे चुप रहने को विवश हैं।

इसी कारखाने में काम करने के लिए एक नौजवान भर्ती होता है। पहले दिन काम कर चुकने के बाद उसके हाथ गहरी ‘बदबू’ से भरे होते हैं। कई बार धुलने के बाद भी बदबू जाती नहीं। इसके लिए उसका एक साथी उसे उपाय सुझाता है कि पहले हाथों को तेल में धो लो।

“एक बड़े टब में घटिया किस्म का कैरोसीन तेल रखा हुआ था। दोनों ने अपने हाथों को कुहनी-कुहनी भर उसमें डुबाकर मला। अब हथेलियों और बाहों में लिपटी सारी चिकनी कालिख धुल गई थी, परन्तु उसे लगा जैसे दोनों बाहों में अदृश्य चीटियाँ रेंग रही हों। कैरोसीन तेल की गंध के कारण उसका जी मिचला उठा। इस खीझ और गंध से मुक्ति पाने के लिए वह नल की ओर चल दिया।”

नल पर पहुँचकर उसने साबुन से बार-बार हाथ धुला लेकिन कैरोसीन की गंध छूट ही नहीं रही थी। इस दृश्य को देखकर कारखाने के मजदूर घासी ने रस ले-लेकर एक किस्सा सुनाना शुरू किया—

‘एक गाँव के मेहतर की लौंडिया थी। उसकी शादी हुई शहर में। जैसा तुम जानो, गाँव के मेहतरों को तो कभी गंदा उठाने की जरूरत ही नहीं पड़ती। नई-नई शहर में गई तो दिन-रात नाक चढ़ा के अपने खसम से कहा करे - बदबू आती है, बदबू आती है। मालिक क्या करता! उसकी खातिर पेशा तो छोड़ नहीं सकता था। धीरे-धीरे लौंडिया भी काम पर जाने लगी। साल-छः महीने के बाद मेहतर की सासू शहर देखने आई। रास्ते में ही हाथ में झाड़ू बाल्टी लिये बेटी मिल गई। माँ पहले तो लाड़ से बेटी से गले मिली और फिर नाक पर आँचल रख लिया।

बेटी ने पूछा, ‘ऐ अम्मा, नाक-मुँह क्यों बंद कर लिया?’

माँ बोली, ‘बेटी, बदबू आती है।’

बेटी अचम्भे से बोली, कैसी बदबू? मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम देती।’

इस किस्से का मर्म घासी ने ही फिर स्पष्ट किया, ‘ये भाई भी अभी हाथ नाक पै ले जा-जा के सूँघ रहे थे तभी किस्सा याद आया। पहले-पहल हम भी ऐसे ही सूँघा करें थे। पर अब तो ससुरा पता ही नहीं चलता। कितना बार तो साबुन नहीं मिलता, ऐसे ही पोंछ-पोंछकर रोटी खाने बैठ जाते हैं।’

प्रश्न उठता है कि कहानी के भीतर इस कहानी की क्या जरूरत थी? दरअसल लेखक का यही कौशल है। कहानी के आरम्भ में ही वह बता देना चाहता है कि ‘बदबू’ न महसूस करने वाले एक अलग वर्ग चरित्र हैं। वे समझौता परस्त हैं और स्थितियों के अनुसार उन्होंने अपने को ढाल लिया है। वे उस व्यवस्था में घुल-मिल चुके हैं। खटते रहना और सब कुछ को स्वीकार करते रहना ही वे अपनी नियति मान चुके हैं।

कारखाने के और भी कुछ तौर-तरीके हैं। काम समाप्त होने के बाद प्रतिदिन सबको तलाशी देने के बाद ही कारखाने से निकलने दिया जाता है। ‘इकहरी पंक्ति के प्रारम्भ में हेड फोरमैन के साथ एक गोरखा सिपाही खड़ा था। प्रत्येक मजदूर अपना रोटी का खाली डिब्बा खोलकर उसे दिखाता और फिर दोनों हाथ ऊँचे उठाकर तलाशी देने की मुद्रा में खड़ा हो जाता। गोरखा सर्चर मजदूर की छाती, कमर और जेबों को टटोलकर आगे बढ़ जाने का संकेत कर देता।’ लोग इस तलाशी और टेलमपेल में भी खुश होते, मजाक करते, मस्त रहते। लेकिन बात यहीं खत्म नहीं होती। ‘बड़े फाटक से पहले फिर इकहरी पंक्ति बन गई थी। परन्तु इस बार पंक्ति के पहले सिरे पर खड़ा हुआ सिपाही तलाशी नहीं ले रहा था, वरन् यह देखने के लिए खड़ा था कि कोई भी व्यक्ति कटघरे में आड़ी गिरी हुई लकड़ी को लॉघे बिना न चला जाए।’ तलाशी सहित इस कूद-फाँद की प्रक्रिया से उसे भी गुजरना पड़ा। ‘अन्य सभी मजदूरों की भाँति वह भी आड़ी गिरी हुई लकड़ी को लॉघकर बाहर चला गया। पीछे मुड़कर उसने फिर एक बार कटघरे की ओर देखा - लोग अब भी एक-एक कर कूदते हुए चले आ रहे थे।’

इस उछल-कूद का क्या प्रयोजन हो सकता है? शायद कुछ भी नहीं। कारखाने में लगातार खटने वाले मजदूरों पर इस तरह संदेह करना और उन्हें बंदर की तरह उछल-कूद करने को बाध्य करना व्यवस्था का बुना हुआ वह जाल है जिसमें भय के तार लगे हुए हैं। शक और भय को इस तरह उनके दिमाग में भर दिया गया है कि वे आदमी होने का भान ही खो बैठे हैं। व्यवस्था का डंडा और रोजी की जरूरत उन्हें बंदरों की तरह उछल-कूद भरी जिन्दगी जीने को अभिशप्त कर रहे हैं। कहते हैं आदिम अवस्था में आदमी भी बंदरों की प्रजाति की तरह जीवन जीता था। आदमी की बुद्धि, तर्क और सही-गलत का भेद कर सकने की क्षमता ने उसे आज की स्थिति में पहुँचाया। जब आदमी तर्क नहीं करता, विश्लेषण की क्षमता खो देता है और सब कुछ को बिना सोचे-समझे, बिना कुछ किये-धरे स्वीकार कर लेता है तो आदमी के अंदर का आदमी मर जाता है। ऐसा ही कुछ इन मजदूरों के साथ हुआ है। व्यवस्था ने इनकी नियति तय कर दी है और वे सब कुछ चुपचाप स्वीकार करके उछलते-कूदते जिन्दगी को ढोये जा रहे हैं। नियति ने उनके अंदर के आदमी को मार दिया है, और वे हैं कि अपनी ही अंतरात्मा की मौत पर हँस रहे हैं।

इस उछल-कूद का प्रयोजन वह नहीं समझ पाया। गेट से बाहर निकलकर उसने अनुभव किया जैसे वह बंद कोठरी से निकलकर खुली हवा में चला आया हो।

‘क्या आफत बना रखी है।’ अनायास ही उसके मुँह से निकल गया। लेकिन उसके लिए जो आफत है वह दूसरों के लिए भगवान का आशीर्वाद है। उसकी बात सुनकर एक बुजुर्ग ने अपनी राय प्रकट की, ‘नये आये लगते हो? पहले-पहल ऐसा ही लगता है, धीरे-धीरे

आदत पड़ जाएगी।' आकाश की ओर अंगुली उठाकर उन्होंने बात आगे बढ़ाई, 'उस नीली छतरी वाले का शुक्र करो कि यहाँ काम मिल गया। अच्छे-भले पढ़े-लिखे लोग धक्के खाते फिरते हैं . . . उसका मन उनकी बातों में नहीं लगा, कनखियों से उसने उनकी ओर देखा। उस ऊपर वाले के अहसान का बोझ उठाते-उठाते ही जैसे उनकी कमर टेढ़ी हो गई थी। वह चाल तेज कर आगे बढ़ गया।'

पहले ही दिन स्थितियों की यह विकटता उसे डराने के लिए पर्याप्त थी। वह सोचने लगा, 'क्या सच ही एक दिन वह भी सब-कुछ सहने का आदी हो जायेगा और नीली छतरी वाले के अहसानों का बोझ उसकी कमर को भी वैसे ही झुका देगा।' इसी घुटन और अवसाद की छाया में उसके दिन बीतने लगे। मजदूर लोग कारखाने की पहली सीटी पर कारखाने की ओर चल देते और दिन भर खटने के बाद थकी-लस्त देह लिए घर लौटते। यह क्रम बारहो महीने हर मौसम में चलता रहता। एक ही जगह, एक ही मुद्रा में वे वर्षों काम करते। उनकी नीरस जिन्दगी में कोई हलचल नहीं थी। उनके 'चेहरों पर असहनीय कष्टों और दैन्य की एक गहरी छाप थी, जो आपस की बातचीत या हँसी-मजाक के क्षणों में भी स्पष्ट झलक पड़ती। किसी प्रकार की नवीनता के प्रति सबके मन में एक विचित्र शंका-भाव जड़ जमाये बैठा रहता।'

इसी बीच एक दिन एक घटना घटी। कारखाने में बीड़ी-सिगरेट पीने की मनाही थी, किन्तु बुधुन नाम के एक मजदूर को साहब ने बीड़ी पीते हुए देख लिया। साहब को देखते ही बुधुन ने चतुराई से बीड़ी मुँह के अन्दर ही डालकर गायब कर ली थी। चीफ साहब के आदेश पर सभी मजदूर एक स्थान पर एकत्रित हो गए थे।

साहब बोले, "कारखाने में इतनी कीमती चीजें पड़ी रहती हैं, किसी भी वक्त आग लग सकती है, एक आदमी की वजह से लाखों रुपये का नुकसान हो सकता है। हम ऐसी गलतियों पर कड़ी-से कड़ी सजा दे सकते हैं।

बुधुन को कड़ी चेतावनी के साथ एक रुपये का दण्ड देने की साहब ने घोषणा कर दी।" यह सब देखकर 'बदबू' महसूस करने वाले नौजवान से नहीं रहा गया, उसने ऊँचे स्वर में कहा, 'साहब, आग तो सभी की बीड़ी सिगरेट से लग सकती है। . . . अफसर साहबान तो सारे कारखाने में मुँह में सिगरेट दाबे घूमते रहते हैं।'

भीड़ में एक भयानक खामोशी छा गयी। इस मुँहजोर नये आदमी की उद्दंडता देखकर साहब का मुँह तमतमा उठा। बड़ी कठिनाई से उनके मुँह से निकला, 'ठीक है, हम देखेंगे।' साहब चले गए। लोगों का ध्यान अब उसकी ओर केन्द्रित हो गया था। घटना स्पष्ट करती है कि व्यवस्था के दोहरे मानदण्डों पर प्रश्न उठाना उद्दंडता है। सच कहना और सबके सामने कहना मुँहजोरी है। वह आग जो बुधुन जैसे लोग निगल कर राख बना देते हैं, नौजवान में बची है अभी। इसीलिए वह अन्याय बर्दाश्त नहीं करता। उसके धैर्य का बाँध टूट जाता है। जो गरीब की गलती है, वह साहब की शान है, जिसके लिए गरीब को दण्ड है, उसकी गलती को साहब करे और उसे कोई कह दे तो कहने वाला ही उद्दंड है। यह भयकारी व्यवस्था के लिए चिन्तनीय है कि कोई उससे प्रश्न करने की हिमाकत करे। पूँजीवादी और सामन्ती व्यवस्था उसकी नीतियों पर शक करने या उन पर प्रश्न उठाने को विद्रोह मानती हैं। उन्हें स्वयं भय होता है कि यदि उनके भय का आतंक समाप्त हो गया तो प्रश्न ही प्रश्न उठेंगे और उनकी दूसरों के उत्पादन पर टिकी लाभकारी व्यवस्था चरमरा जाएगी। इसीलिए वे ऐसे लोगों का बेरहमी से दमन करते हैं। उनकी नीति होती है कि व्यक्ति को समूह बनने से पहले ही तोड़ दिया जाय। कहानी में होता भी यही है।

‘प्रत्यक्ष रूप में किसी ने भी बीड़ी वाली घटना को लेकर उसकी सराहना नहीं की, यद्यपि उनके व्यवहार और उनकी बातों से उसे लगा जैसे उन्हें यह अच्छा लगा हो और वे उसके अधिक निकट आना चाहते हों।’ दो-तीन नौजवान उसके साथ जुड़े भी। उनमें गुस्सा बहुत था। एक ने तो बातचीत में यहाँ तक कहा कि ‘छोटे साहब की गाड़ी के पिस्टन अंदर बदले गए हैं, खुद मैंने अपनी आँखों से देखा।’ लेकिन तमाम गुस्से के बाद भी उसे बहुत कम लोगों की सहानुभूति मिल सकी। बल्कि अधिकतर सहकर्मी उसके प्रति रूखा व्यवहार दिखाने लगे। कुछ में तो ईर्ष्या और उपेक्षा की भावना भी उभर आई। ये ईर्ष्यालु लोग वे थे जो मजदूरों की नेतागिरी के नाम पर साहबों और मजदूरों दोनों से लाभ लेते थे। वास्तव में वे बनते थे मजदूरों के नेता किन्तु नेता की स्थिति में पहुँचते ही मजदूरों के बीच साहबों के प्रतिनिधि बन जाते थे। स्वाभाविक था कि वे उस दमनकारी व्यवस्था के कवच का काम करने लगते थे। इसलिए जब एक सच्चे आदमी ने निर्भीकता से बात कहने का साहस दिखा दिया तो वह उन्हें भी खटकने लगा। एक नेता जी ने तो खुद को नेता कहे जाने पर यहाँ तक कह दिया, ‘काहे शर्मिन्दा करते हो भाई, अब तो कारखाने में बड़े-बड़े नेता पैदा हो गए हैं। हम किस खेत की मूली हैं।’

ऐसे ईर्ष्यालु लोग होते तो भी गनीमत थी। साहबों के हाथों अपनी अन्तरात्मा बेच चुके ऐसे लोग भी मौजूद थे जो अच्छा बनने का नाटक तो करते थे किन्तु उनका काम हर उस खबर की मुखबिरी करना था जो साहबों की व्यवस्था पर सवाल उठाने की हिमाकत करने वालों से जुड़ी होती थी। बीड़ी वाली घटना के बाद उस नौजवान से कई लोग जुड़ चुके थे। सबमें गुस्सा था और व्यवस्था से उनकी तमाम माँगें थीं। इस सम्बन्ध में सब लोग उसके घर पर रात में बैठकर बात भी कर चुके थे। लेकिन इन्हीं लोगों के बीच व्यवस्था का मुखबिर भी था जो पहले दिन से ही नौजवान की गतिविधियों पर नजर रख रहा था और उसकी टीम का एक मुस्तैद सदस्य बन चुका था। यद्यपि नौजवान को इस बात की आशंका थी और उसकी आशंका सच साबित हुई। रात की सारी रिपोर्ट चीफ साहब के पास पहुँच गई थी। उसे साहब के सामने पेश होना पड़ा। इस पेशी में साहब और नौजवान के बीच की बातचीत बेहद महत्वपूर्ण है।

साहब- ‘हम तुम्हारी भलाई के लिए ही कह रहे हैं। जमाना बुरा है। बाल-बच्चों वाले आदमी को ऐसी बातों में नहीं पड़ना चाहिए।’

नौजवान- ‘ऐसा कोई खतरनाक काम तो मैंने नहीं किया साहब।’

साहब- ‘हम जानते हैं, सब कुछ जानते हैं। कल रात तुम्हारे घर मीटिंग हुई थी या नहीं?’

नौजवान- ‘दो-चार यार दोस्त बैठने के लिए आ जायें तो उसे मीटिंग कौन कहेगा साहब?’

साहब- ‘सुनो जवान! यार दोस्तों की महफिल में गप्पें होती हैं, ताश खेले जाते हैं, शराब पी जाती है, लेकिन स्कीमें नहीं बनती।’

नौजवान- ‘साहब, लोगों को मकान की परेशानी है, छुट्टियों का ठीक हिसाब नहीं, छोटी-छोटी बातों पर जुर्माना हो जाता है। यही बातें आपसे अर्ज करनी थीं। यही वहाँ भी सोच रहे थे।’

साहब- ‘मैं कौन होता हूँ, जो तुम लोग मुझसे यह कहने के लिए आते हो? मैं भी तो भाई, तुम्ही लोगों की तरह एक छोटा-मोटा नौकर हूँ।’

नौजवान- ‘तो जो हमारी बात सुनेगा उसी से कहेंगे साहब।’

साहब— 'तुम बाहर की पार्टियों के एजेण्ट हो, ऐसे लोग ही हड़ताल करवाते हैं। मैं एक-एक को सीधा करवा दूँगा। मैं जानता हूँ तुम्हारे गुट में कौन-कौन हैं। आइंदा ऐसी बातें मैं नहीं सुनना चाहता।'

यहाँ भाव-भंगिमाओं को छोड़कर सीधे-सीधे संवाद प्रस्तुत किये गये हैं। व्यवस्था कैसे नर्म से भय पैदा करने की कोशिश करती है और नाकामयाब होने पर अपने असली रूप में आ जाती है, इसे समझा जा सकता है। साहब के सीधा करने का तरीका क्या है? दबाव! काम का ऐसा दबाव कि काम करते-करते आदमी निचुड़ जाय। उसे सोचने तक की फुर्सत न मिले। नौजवान के काम के बदलाव की सूचना मिस्ट्री ने उसे दे दी - 'साहब ने तुम्हारी बदली कास्टिक टैंक पर कर दी है, बड़ा सख्त काम है, अब भी साहब को खुश कर सको तो बदली रुक सकती है।' यह खुश करने की बात कहाँ से आ गई? उसने गलती क्या की है, सच ही तो कहा है। चुप रहना, बेचैनी सहना उसे मंजूर नहीं था, इसलिए तकलीफें बयान कर दीं। लेकिन यही तो असली संकट है। तकलीफें ही सही उन्हें सच-सच क्यों कहा? सच कहना सबसे खतरनाक है, इसलिए सबसे बड़ा जुर्म है। इतना बड़ा जुर्म और साहब नाराज भी न हो! मिस्ट्री ने बदली का आदेश बताते हुए अपनी तरफ से समझाया भी - 'इस दुनिया में सबसे मेल-जोल रखकर चलना पड़ता है। नदी किनारे की घास पानी के साथ थोड़ा झुक लेती है और फिर उठ खड़ी होती है। लेकिन बड़े-बड़े पेड़ धार के सामने अड़ते हैं और टूट जाते हैं।' नौजवान जानता था कि झुकना घास होना है और घास बनकर कभी धारा को मोड़ा नहीं जा सकता। वह बिना बोले से कास्टिक टैंक पर चला गया। उसने महसूस किया कि टैंक पर काम करने वाले मजदूर जान-बूझ कर उससे अलग रहने का प्रयत्न कर रहे थे।

काम के बाद उस दिन जब वह घर पहुँचा तो शाम को हरीराम को छोड़कर कोई साथी नहीं आया। उसके मौन को हरीराम ने तोड़ा— 'घनश्याम की तो बीबी बीमार हो गई, लेकिन मोहन, राधे, हनीफ वगैरह किसी को तो आना चाहिए था।'

'शायद उनके बच्चे बीमार हो गये हों', झुंझलाकर उसने उत्तर दे दिया।

हरीराम ने फिर कहा— 'हम तो तुम्हारे पीछे हैं भाई। जैसा तुम कहोगे वैसा करेंगे। मैं तो ठीक टैम पर आ गया था, देख लो।'

'तुम ही ठीक टैम पर न आओगे तो चीफ साहब को रिपोर्ट कौन देगा!' उसने कहा और अपनी साइकिल उठाकर बाहर चल दिया। व्यवस्था के मुखबिर को उसने पहचान लिया था। फिर भी उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचने का काम जारी था। एक बार उसके खाने के खाली डिब्बे में कागज के पुर्जे डाल दिए गये थे। वो तो उसकी किस्मत अच्छी थी कि उसे उसका थैला भारी लगा था और उसने पुर्जे निकालकर आलमारी में डाल दिये थे। उस दिन उसकी जमकर तलाशी ली गई थी किन्तु फोरमैन और सर्चर को निराश होना पड़ा था।

प्रातःकाल कारखाने का गेट अंतिम साइरन के बाद थोड़ी देर तक खुला रहता था जिससे उसके पास पहुँच चुके लोग कारखाने में चले जाते थे। जबकि नियम यह था कि अंतिम साइरन के बाद गेट बंद कर दिया जाय और आधे घंटे बाद खोला जाय। उस दिन उसे थोड़ी देर हो गयी थी, वह गेट से बीस-तीस गज की दूरी पर ही था परन्तु चौकीदार ने गेट बंद कर दिया। बीस-पच्चीस आदमी और भी थे जो हाँफते हुए चले आ रहे थे। आधा घंटा देर में आने का दंड छः आठ आना से कम नहीं था। पिछली बार भी उसकी पत्नी ने पचपन आना का हिसाब लगाया था लेकिन उसे वेतन मिला था चौवन आठ आना। इस

वजह से उसके बबुआ की टोपी उस महीने रह गयी थी। उसने सोचा ‘कितनों के बबुआ की टोपी इस महीने भी रह जाएगी।’ लेकिन वही झुकी कमर वाले बुजुर्ग ने उस समय जो कहा उससे लगा कि सारा दोष अकेले उसी का हो, ‘घोड़े के पीछे और अफसर के आगे कौन समझदार जाएगा? एक आदमी के कारण इतने लोगों का नुकसान हो गया, ऐसे लड़ने-भिड़ने को ही जवानी बना रखी हो तो, आदमी दंगल करे, अखाड़े में जाए। नौकरी में तो नौकर की ही तरह रहना चाहिए।’

ऐसा क्या कर दिया एक आदमी ने जो सबका नुकसान हो गया? उसने नौकरी में कहाँ चूक की? वह कब नौकर नहीं था? उसने मेहनत से सारे काम किए, जहाँ बदली की गई वहाँ भी उसने काम में कोई लापरवाही नहीं की, एक दिन के थोड़े से विलम्ब को छोड़कर हमेशा समय से आया, उसने कभी किसी से अभद्रता नहीं की, वह हमेशा नौकर की ही तरह रहा, फिर इस तरह का वक्तव्य उसके लिए क्यों? वह इसलिए कि उसे एकदम अकेला कर दिया जाय, वह लोगों के बबुआ की टोपी न आ पाने का नैतिक उत्तरदायित्व स्वयं पर लेने लगे, उसे ऐसे मानसिक धरातल पर पहुँचा दिया जाय कि हर गलती में उसे अपनी भूमिका नजर आने लगे। वह इतने दबाव में आ जाय कि लोगों से कटने लगे, चुप हो जाये और धीरे-धीरे लोगों को अपना दुश्मन मान बैठे। कहते हैं ‘सिजोफ्रेनिया’ नामक मानसिक बीमारी के ये आरंभिक लक्षण हैं। अर्थात्, आदमी की सोच को उस मोड़ पर पहुँचा दिया जाय जहाँ वह खुद पर ही शक करने लगे और धीरे-धीरे अतिशय सतर्कता में उससे गलतियाँ होने लगे।

इन घटनाओं का उस पर असर भी होने लगा था। कहानी के अन्तिम अनुच्छेद में शेखर जोशी ने इन घटनाओं के असर और उसके बाद भी नौजवान की जिजीविषा के बचे रहने का वर्णन बहुत ही मार्मिक ढंग से किया है।

‘दिन भर वह यंत्रवत् काम करता रहा। थकान के कारण शरीर चूर-चूर हो रहा था। परन्तु बैठकर सुस्ता लेने को भी उसका मन नहीं हुआ। कैंटीन में जाकर उसने चाय ली और अनुभव किया कि चाय फीकी है। पहले किसी दिन ऐसी बात होती तो वह कैंटीन मैनेजर से शिकायत करता परन्तु आज आधी चाय छोड़कर चला आया। ग्रीज और तेल लगा हुआ सामान उठाने के कारण हाथ गंदगी से भर गये थे, साइरन की आवाज उसके कानों में पड़ी तो उसने काम बंद किया। ऐसा लगता था कि साइरन यदि किसी कारण से न बजता तो वह उसी प्रकार यंत्रवत् काम करता रहता। जल्दी-जल्दी में उसने दोनों हाथ कैरोसीन तेल में धो डाले। साबुन का डिब्बा टटोलकर देखा तो वह खाली था। भूमि पर से थोड़ी मिट्टी उठाकर वह नल की ओर चल दिया। पिछले तीन-चार महीनों की नौकरी में आज वह पहली बार मिट्टी से हाथ धो रहा था। भुरभुरी मिट्टी को पानी के साथ लगाकर उसने हाथों में मला और फिर दोनों हाथ नल के नीचे लगा दिए। पानी के साथ मिट्टी की पतली पर्त भी बह चली। दूसरी मिट्टी लगने से पहले उसने हाथों को सूँघा और अनुभव किया कि हाथों की गंध मिट चुकी है। सहसा एक विचित्र आतंक से उसका समूचा शरीर सिहर उठा। उसे लगा जैसे आज वह भी घासी की तरह उस बदबू का आदी हो गया है। उसने चाहा कि वह एक बार फिर हाथों को सूँघ ले लेकिन उसका साहस न हुआ। परन्तु फिर बड़ी मुश्किल से वह दोनों हाथों को नाक तक ले गया और इस बार उसके हर्ष की सीमा न रही। पहली बार उसे भ्रम हुआ था। हाथों में कैरोसीन की बदबू अब भी आ रही थी।’

यंत्रवत् काम करना, कैंटीन मैनेजर से फीकी चाय की शिकायत नहीं करना, पहली बार मिट्टी से हाथ धुलना और दूसरी मिट्टी लगाने से पहले ही गंध का मिट जाना व्यवस्था के सामने उसकी पस्ती के संकेत हैं। लेकिन बदबू न आने पर आतंक से सिहर उठना

और बदबू आने पर हर्षित होना उसके अंदर की संघर्ष क्षमता के बचे रहने के परिचायक हैं।

यहीं पर 'बदबू' शीर्षक की सार्थकता भी स्पष्ट होती है। 'बदबू' के न आने से कोई दुःखी नहीं होता, 'बदबू' बुरी गंध होती है, वह जितनी जल्दी मिट जाय ठीक है। 'बदबू' से भला हर्षित होने का क्या मतलब? लेकिन कहानी में 'बदबू' उल्टे संदर्भों से जुड़ी है। उसे विरोधाभासी या असंगत संदर्भों से जोड़ना गलत होगा। 'बदबू' उस सड़ी-गली व्यवस्था से उठने वाली गंध है जिसको समाप्त किया जाना जरूरी है। वह जब तक महसूस हो रही है उसके प्रति संघर्ष है, प्रतिकार है, व्यवस्था से समझौता नहीं है। इसीलिए जब नौजवान को दूसरी बार सूँघने पर 'बदबू' महसूस होती है तो वह प्रसन्न होता है। उसे खुशी होती है कि सारी परेशानियों के बावजूद वह हारा नहीं है, चुका नहीं है, समाप्त नहीं हुआ है, बदबूदार व्यवस्था का अंग नहीं बना है। 'बदबू' के ध्वन्यार्थ यहाँ बड़े हो जाते हैं और अपने विलक्षण शीर्षक के साथ कहानी अद्भुत प्रभाव छोड़ जाती है।

3.7 बदबू : पाठ के बाद

अल्बर्ट आइन्स्टाइन ने कहा था कि 'दुनिया उन लोगों द्वारा नहीं नष्ट होगी जो बुराई करते हैं, बल्कि उन लोगों द्वारा जो बिना कुछ किए उसे देखते रहते हैं।' 'बदबू' में बिना कुछ किए उसे देखते रहने वालों की संख्या अधिक है। इसीलिए बदबूदार व्यवस्था फलती-फूलती रहती है। शेखर जोशी 'बदबू' में युगीन संदर्भों को साफगोई से पेश करते हैं। पंचवर्षीय योजनाओं की शुरुआत के बाद देश में औद्योगीकरण की प्रक्रिया भी चल पड़ी थी। इस प्रक्रिया में लगने वाले कल-कारखानों का प्रबंधन पूँजीवादी-सामन्त मानसिकता वालों के ही हाथ में रहा। उनके लिए सच बोलना गुनाह था। इससे उनकी शोषण पर आधारित व्यवस्था का पर्दाफाश होता था। बढ़ती बेरोजगारी से वे अपनी शर्तों पर सस्ता श्रम पाते रहने को आश्वस्त थे। झुकी कमर वाले बुजुर्ग का यह बयान इसकी पुष्टि करता है। 'उस नीली छतरी वाले का शुक्र करो कि यहाँ काम मिल गया। अच्छे-भले पढ़े-लिखे लोग धक्के खाते फिरते हैं।' पचास के दशक का यह संदर्भ आज भी प्रासंगिक है। बेरोजगार युवा आज भी अपनी योग्यता से कम पर काम करने को मजबूर हैं। कर्म और फल का अनुचित संबंध शोषण की संस्कृति का विकास करता है। सच और श्रम का महत्व आजादी के बाद कमजोर होता गया है। शेखर जोशी ने वर्तमान में भविष्य को प्रस्फुटित किया है। आज के समय में 'बदबू' की प्रासंगिकता उनके सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिणाम है। इस आधार पर देखें तो 'बदबू' अपने समय की धारा को भी अतिक्रमित करती है।

पाश ने लिखा है, 'सबसे खतरनाक होता है/मुर्दा शांति से भर जाना/न होना तड़प का सब सहन कर जाना/घर से निकलना काम पर/ और काम से लौटकर घर जाना/सबसे खतरनाक होता है/हमारे सपनों का मर जाना।' मुर्दा शांति से भरे हुए लोगों के बीच नौजवान के हाथों में 'बदबू' का बचा रहना उसके सपनों का जिन्दा रहना है। शेखर जोशी की उम्मीदें कायम हैं। उन्हें लगता है कि वह सुबह जरूर आएगी, जब शोषण पर आधारित व्यवस्था का अंत होगा, और वह अंत भी मजदूरों एवं नौजवानों के हाथ होगा। यह शेखर जोशी की प्रगतिवादी चेतना का उद्घोष है। वह अप्रिय अवस्थाओं का अंत करना चाहते हैं। मुंशी प्रेमचंद भी यही चाहते थे। प्रेमचंद ने कहा था- 'जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है- चाहे वह व्यक्ति हो या समूह - उसकी हिमायत और वकालत करना उसका (साहित्यकार) का फर्ज है।' शेखर जोशी इस फर्ज को पूरा करते हुए सीधे प्रेमचंद की परम्परा से जुड़ने वाले कहानीकार बन जाते हैं।

कल-कारखानों के जीवन को लेकर शेखर जोशी ने कई कहानियाँ लिखी हैं। कारखाने का प्रसंग प्रेमचंद ने भी अपने उपन्यास ‘रंगभूमि’ में उठाया है। यद्यपि ‘रंगभूमि’ की मुख्य समस्या जमीन की है किन्तु ‘रंगभूमि’ में कारखाना लगाने को आतुर मि. जानसेवक और ‘बदबू’ के चीफ साहब का वर्ग चरित्र एक जैसा है। मि. जानसेवक का नौकर ताहिर अली सूरदास को समझाता है, ‘इन बड़े आदमियों से अभी पाला नहीं पड़ा है। . . . जब कानूनी दौंव-पेंच खेलकर जमीन पर कब्जा कर लेंगे . . . तो सीधे हो जाओगे। मुहल्ले वालों पर भूले बैठे हो। पर देख लेना, जो कोई पास भी फटके। साहब यह ज़मीन लेंगे जरूर, चाहे खुशी से दो, चाहे रोकर दो।’ ‘रंगभूमि’ में होता भी यही है।

‘बदबू’ में भी ‘रंगभूमि’ के मुल्लेवालों की तरह घनश्याम, राधे, मोहन, हनीफ साथ छोड़ जाते हैं। झुकी कमरवाले बुजुर्ग और मिस्त्री की नसीहतें भी ताहिर अली जैसी ही हैं- ‘घोड़े के पीछे और अफ़सर के आगे कौन समझदार जाएगा।’ ‘नदी किनारे की घास पानी के साथ थोड़ा झुक लेती है और फिर उठ खड़ी होती है। लेकिन बड़े-बड़े पेड़ धार के सामने अड़ते हैं और टूट जाते हैं।’ यही वजह है कि वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी शेखर जोशी की ‘दाज्यू’ कहानी की चर्चा करते हुए अपनी पुस्तक ‘कुछ कहानियाँ : कुछ विचार’ में लिखते हैं- ‘दाज्यू’ की कहानी ऐसी है मानो शेखर की कलम से प्रेमचंद की उँगलियों ने लिखी हो। . . . मैंने स्वातंत्र्योत्तर भारत के किसी और कहानीकार की कोई और कहानी नहीं पढ़ी जिसकी शैली इतनी प्रेमचंदीय हो।’

प्रश्न उठता है कि इतना समर्थ कहानीकार होते हुए भी शेखर जोशी नई कहानी आंदोलन के दौर में चर्चा के केन्द्र में कम क्यों रहे! कथा समीक्षक मधुरेश अपनी पुस्तक ‘नयी कहानी : पुनर्विचार’ में मानते हैं कि ‘शेखर जोशी की कहानियाँ एक अजीब से ठंडेपन का शिकार लगती हैं, शायद इसी कारण नयी कहानी आंदोलन के दौर में वह हमेशा हाशिये पर रहे।’ मधुरेश के इस कथन से पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता। यद्यपि नयी कहानी आंदोलन में ‘ग्राम कथा’ बनाम ‘नगर कथा’ का संघर्ष अधिक था। मार्कण्डेय ग्राम कथाकार कहे गए तो रेणु आंचलिक और अमरकान्त को कस्बे का कहानीकार कहा गया। नगरीय संदर्भों से मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव ने त्रयी बनाई। लेकिन इस शोर में शेखर जोशी का ठंडापन ही उनकी ताकत बना। आवेग-बहुलता रचना को क्षति पहुँचाती है। भावुकता और रोमांस जब अतिरेकी हो जाते हैं तो वे अपने समय की धारा से कटकर अप्रासंगिक और अपठनीय होने लगते हैं। पहाड़ की खामोशी और ठंडेपन का प्रतीक ‘कोसी का घटवार’ ही हो सकती है, यह शेखर जोशी की निजी अनुभूति है, इसे मैदान का शोर नहीं समझ सकता। इसीलिए जब ‘अनुभूति’ के संबंध में डॉ. नामवर सिंह अपनी पुस्तक ‘कहानी: नई कहानी’ में चर्चा करते हैं तो उन्हें शेखर जोशी की कहानी ‘बदबू’ याद आती है, ‘शेखर जोशी की कहानी ‘बदबू’ जैसे इसी अनुभूति क्षमता को सतत जाग्रत रखने का सटीक उदाहरण है। कारखाने में काम करने वाले हाथों की ‘बदबू’ ऐसा न हो कि कुछ दिनों बाद ‘बदबू’ लगे ही नहीं - मजदूर की यह चिन्ता जैसे स्वयं नये लेखक की चिन्ता है।’ यही नहीं जिन्दगी के गहन जंगल की सजीव वस्तुओं को नाम देने वाले कहानीकार के रूप में उन्होंने शेखर जोशी की कहानियों की सूची ही दे डाली है, ‘इन्हीं में ‘मोटर-मिस्त्री’ उस्ताद थे, जिन्हें शेखर जोशी ने शिष्य बनकर पहचाना, यहीं ‘बदबू’ महसूस न करने वाले और ‘बदबू’ को न भूलने वाले लोग भी मौजूद हैं। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर ‘कोसी का घटवार’ रहता है और आंचलिक कहानियों में उभरने वाली दर्जनों सजीव आत्माएँ यहीं से ली गयी हैं।’ स्पष्ट है कि शेखर जोशी नयी कहानी आंदोलन के बेहद महत्वपूर्ण कहानीकार हैं।

यहाँ एक बात को रेखांकित करना जरूरी है। ग्राम कथा बनाम नगर कथा की धाराओं के संघर्ष में अपनी प्रगतिशील चेतना से लैस औद्योगिक जीवन को आधार बनाकर लिखी गयी कहानियों की एक तीसरी धारा शेखर जोशी निकाल सकते थे, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। दरअसल उनकी कहानियाँ स्वयं में एक आंदोलन है। कल-कारखानों और मजदूरों के जीवन पर लिखी गयी कहानियों की जब भी चर्चा होगी - शेखर जोशी का नाम सबसे पहले आएगा और 'बदबू' इस आंदोलन की प्रतीक कथा बनेगी। शेखर जोशी की इस धारा की कहानियाँ कामगारों के जीवन के यथार्थ एवं संवेदना में छुपे सामंती अवशेषों के प्रतिरोध की ताकत व्यक्त करती हैं। कह सकते हैं कि औद्योगिक जीवन की वर्गचेतना के इस कुशल चितरे की कहानियाँ पुनर्मूल्यांकन की माँग करती हैं।

3.8 बदबू : भाषा-शैली

'बदबू' की भाषा सरल और सहज है। इसमें किस्सागोई वाली शैली मौजूद है। चौपाल या अलाव तापते हुए कहानी कहने का ढंग शेखर जोशी की ताकत है। वे शब्दों का प्रयोग इस तरह से करते हैं कि पूरा दृश्य बनता जाता है। 'बदबू' का आरम्भ देखिए-

'एक साथी ने उसकी परेशानी का कारण भाँप लिया था, 'ऐसे नहीं उतरेगा मास्टर! आओ, तेल में धो लो, कहकर उस साथी ने उसे अपने साथ चले आने का संकेत किया।'

यहाँ पूरा दृश्य सामने है। उसने गंदगी छुड़ाने का प्रयास किया होगा, वह नहीं छूटी होगी, साथी ने इस पूरी प्रक्रिया को देखा होगा फिर उसकी परेशानी का कारण भाँप लिया होगा। अब 'मास्टर' और 'संकेत' शब्दों पर ध्यान दीजिए। कारखाने में काम करने वाले लोगों के बीच जो आत्मीयता 'मास्टर' से आ सकती थी वह किसी अन्य शब्द से नहीं। 'संकेत' भाषा की तीसरी ताकत है। बिना कुछ कहे, सब कुछ कह देना और जो घटना चाहिए उसका घटित हो जाना। संकेत हुआ और नौजवान चल दिया। कारखाने से जुड़ी कहानी है तो उसके उपकरण उसी नाम से हैं- साइरन, एजेंट, हड़ताल, कैरोसीन, सर्चर, फोरमैन, चीफ, पिस्टन, टेलीफून, टिफिन, सिगरेट, पैकेट, कारीगर, मिस्त्री, मीटिंग, गेट, जाली, रिपोर्ट, स्टूल, पेपरवेट, कास्टिक टैंक, साइकिल, टैम, वर्क्स मैनेजर, पैडिल, गप्प, स्कीमें, ताश, कैंटीन मैनेजर, पेंट, जंग, ग्रीज, तेल आदि।

लेकिन शब्दों के प्रयोग में सजगता है। जैसे रिपोर्ट शब्द को लीजिए - 'शायद रात की सारी रिपोर्ट चीफ साहब के पास पहुँच गई थी।' अब नौजवान और हरीराम की बात-चीत में देखिए- 'तुम ही ठीक टैम पर न आओगे तो चीफ साहब को रिपोर्ट कौन देगा!' स्पष्ट है कि शेखर जोशी को भाषा पर पूरी सिद्धि हासिल है। वे जरूरत के हिसाब से उसका प्रयोग करने में माहिर हैं। कामगारों की बातचीत में डिब्बा-थैला, बबुआ, चौवन आठ आने, झाड़ू, बाल्टी, मेहतर, लौंडिया, खसम, पेशा, सासू, पै, सूँघा करें थे, ससुरा, पोंछ-पाँछकर, रंगीले, अबे, यार, दाबे, अर्ज, बदली, दंगल, अखाड़ा जैसे शब्द उनकी देशज संवेदना को अभिव्यक्त करते हैं।

'बदबू' में मुहावरों-कहावतों का भी प्रयोग खूब हुआ है। 'नाक चढ़ाना', आफत बनाना', 'खीर खाये बामणी, फाँसी चढ़े शेख', 'किस खेत की मूली होना', 'बौखला जाना', 'घोड़े के पीछे और अफसर के आगे होना' का प्रयोग कहानी के शिल्प के महत्वपूर्ण पक्ष हैं। 'बदबू' में वर्णन एवं चित्रण दोनों शैलियों का प्रयोग हुआ है। 'बदबू' के अपने प्रतिकार्य हैं। कहानी में प्रतीकों की कमी नहीं है। 'चुप', दूसरे नौजवान ने फुसफुसा कर उसे टोक दिया, 'टेलीफून जा रहा है।' स्पष्ट है कि यहाँ 'टेलीफून' 'मुखबिर' का प्रतीक है। व्यंग्य के प्रयोग भी खूब हैं। घासी व्यंग्य में पूरी कहानी कह जाता है। नेताजी की उक्ति भी

व्यंग्यात्मक है, 'काहे शर्मिन्दा करते हो भाई, अब तो कारखाने में बड़े-बड़े नेता पैदा हो गए हैं।'

कहानी में बुजुर्गों के कथन अनुभवों की अभिव्यक्ति हैं। 'इस दुनिया में सबसे मेल जोल रखकर चलना पड़ता है। नदी किनारे की घास पानी के साथ थोड़ा झुक लेती है और फिर उठ खड़ी होती है। लेकिन बड़े-बड़े पेड़ धार के सामने अड़ते हैं और टूट जाते हैं। मिस्त्री का यह कथन उसके जीवन भर के अनुभवों का निचोड़ है। चीफ साहब और नौजवान की बातचीत में चीफ साहब के हाव-भाव देखने लायक हैं- 'अपने कथन की प्रतिक्रिया जानने के लिए साहब ने उसकी ओर देखा। उनके हाथ मेज पर बिछे कपड़े की सलवटों को सहलाने में व्यस्त थे। . . . मानसिक उत्तेजना के कारण साहब दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में उलझाते हुए बोले। . . . एकाएक साहब बौखला कर कुर्सी पर उछल पड़े।' बातचीत के बढ़ते हुए क्रम में चीफ साहब की मानसिक स्थिति को दर्शाने के लिए जिस भाषा के गढ़न की आवश्यकता थी, शेखर जोशी उसे पूरा करते हैं।

वास्तव में 'बदबू' की संरचना उसके बोध से जुड़ी हुई है। कोई भी शब्द यहाँ बिना वजह के नहीं है। इसे शब्दों, वाक्यों, अनुच्छेदों से समझने का प्रयास अधूरा रहेगा। यही कारण है कि कहानी पूरा पाठ किये जाने की माँग करती है और पढ़ने के साथ-साथ पाठक के भीतर उतरती चलती है। कहानी का अंत कहानी के उद्देश्य को पूरा करता है और शीर्षक की सार्थकता को सिद्ध करता है। कहानी समाप्त होती है और पाठक पर अद्भुत प्रभाव छोड़ जाती है।

3.9 सारांश

'बदबू' शेखर जोशी की एक महत्वपूर्ण कहानी है। 1958 में प्रकाशित उनके पहले कहानी संग्रह 'कोसी का घटवार' में यह संकलित है। नई कहानी आंदोलन के एक महत्वपूर्ण कहानीकार के रूप में शेखर जोशी ने अपनी अलग पहचान बनाई है। उनकी कहानियों का वस्तुगत विभाजन करने पर उन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

1. पहाड़ी जीवन पर आधारित कहानियाँ
2. मजदूरों के जीवन पर आधारित कहानियाँ
3. मध्यवर्गीय पारिवारिक स्थितियों पर आधारित कहानियाँ।

शेखर जोशी की कहानियाँ उनके जीवन की अनुभूतियों से जुड़ी हैं। उनकी कहानियों में सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन की आकांक्षा स्पष्ट है। शेखर जोशी को पहाड़ अत्यन्त प्रिय हैं, इसीलिए उनमें पर्वतीय जीवन की आंचलिक मोहकता मौजूद है। इस दृष्टि से 'कोसी' का घटवार' और 'दाज्यू' महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं।

'बदबू' एक कारखाने में काम करने वाले लोगों की जिन्दगी पर आधारित कहानी है। 'बदबू' जिजीविषा और संघर्ष की प्रतीक है। जब तक वह महसूस हो रही है, संघर्ष की गुंजाइश है, जीवन की संभावना है, मानवीय संवेदना के बचे रहने का संकेत है। किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था इस तरह से पीस देती है कि 'बदबू' होते हुए भी कारखाने के लोगों को 'बदबू' महसूस नहीं होती। कारखाने के भीतर और बाहर दोनों जगह वे असहाय हैं। व्यवस्था ने उनका जीवन रस निचोड़ लिया है और वे खटते रहना और सब कुछ को स्वीकार करते रहना ही अपनी नियति मान चुके हैं।

इसी कारखाने में काम करने वाला एक नौजवान व्यवस्था के विरोध में खड़ा होता है। दमन के विरुद्ध उसका यह प्रतिकार चीफ साहब को स्वीकार नहीं है। उसे तरह-तरह

के हथकंडों से तंग किया जाता है। साथी मजदूर भी उससे कटे-कटे से रहते हैं। वह एकदम अकेला पड़ जाता है और उसकी बदली ऐसे काम पर कर दी जाती है जो बहुत सख्त है। फिर भी वह हार नहीं मानता, लेकिन अकेलापन उसे भीतर-भीतर कमजोर करने लगता है। एक दिन उसे लगता है कि एक बार धुलने पर ही उसके हाथों की 'बदबू' चली गयी है। यह बात उसे डरा देती है परन्तु अगले ही पल फिर से सूँघने पर उसे पता चलता है कि उसके हाथों में 'बदबू' बनी हुई है। इस बार उसे हर्षित होते हुए देखा जा सकता था। 'बदबू' न आने पर आतंक से सिहर उठना और 'बदबू' आने पर हर्षित होना उसके अंदर की संघर्ष क्षमता के बचे रहने का परिचायक है।

'बदबू' की भाषा सरल और सहज है। वर्णन और चित्रण दोनों शैलियों का प्रयोग हुआ है। मुहावरों, कहावतों और देशज संवदेना से भरे शब्दों की भरमार है। कहानी पूरा पाठ किये जाने की माँग करती है। कल-कारखानों पर लिखी गई कहानियों की जब भी चर्चा होगी - शेखर जोशी का नाम सबसे पहले आएगा और 'बदबू' इस धारा की प्रतीक कथा बनेगी।

3.10 अभ्यास

1. नई कहानी आंदोलन पर प्रकाश डालिए।
2. 'शेखर जोशी की कहानियाँ नई कहानी आंदोलन को संबल प्रदान करती हैं।' सिद्ध कीजिए।
3. शेखर जोशी की कहानियों का वर्गीकरण करते हुए उनकी आंचलिक दृष्टि रेखांकित कीजिए।
4. 'बदबू' कारखाने के जीवन पर लिखी गई अद्भुत कहानी है।' कथन की सार्थकता स्पष्ट कीजिए।
5. 'बदबू' जैसी कहानियाँ शेखर जोशी को एक अलग धारा के पुरस्कर्ता कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं।' सिद्ध कीजिए।
6. 'बदबू' की भाषा-शैली पर टिप्पणी लिखिए।

इकाई 4 राजा निरबंसिया : विश्लेषण और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 नई कहानी : सामान्य परिचय
- 4.3 राजा निरबंसिया : पाठ-बोध और प्रक्रिया
- 4.4 सारांश
- 4.5 अभ्यास

4.0 उद्देश्य

इस कहानी को पढ़ते हुए आप जान सकेंगे/सकेंगी कि नई कहानी आन्दोलन के पुरस्कर्ताओं-कमलेश्वर, मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव में से एक, कमलेश्वर की कहानियाँ एक नई और भिन्न जमीन की कहानियाँ हैं। यहाँ न तो सिर्फ गाँव है और न सिर्फ शहर, बल्कि भारत के आम आदमी की जिन्दगी की असली तस्वीर प्रस्तुत करने वाला वह कस्बा है जो थोड़ा गाँव भी होता है और थोड़ा शहर भी। इस कहानी को पढ़कर आप :

- नई कहानी आन्दोलन की सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे/सकेंगी।
- नई कहानी आन्दोलन और कमलेश्वर की कथा-संवेदना से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी।
- 'राजा निरबंसिया' कहानी के माध्यम से पुराने चले आ रहे सामंती मूल्यों से मुक्ति की छटपटाहट और नए मूल्यों के स्वीकार के बीच के द्वन्द्व को जान सकेंगे/सकेंगी।
- सामंती मूल्यों के विघटन और उसके बावजूद उन मूल्यों को ढोने वाले समाज तथा व्यक्ति के जीवन में घुले हुए घुटन के तत्वों को पहचान सकेंगे/सकेंगी।
- स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के भारतीय जीवन में आर्थिक परिस्थितियों के महत्त्व और उसके हस्तक्षेप से बनने वाली जीवन स्थितियों से साक्षात्कार कर सकेंगे/सकेंगी।

4.1 प्रस्तावना

कमलेश्वर का नाम नई कहानी आन्दोलन के पुरस्कर्ता के रूप में हिन्दी कहानी के इतिहास में आदर के साथ लिया जाता है। उन्होंने पहले से चली आती हुई हिन्दी कहानी की परम्परा में एक युगान्तरकारी परिवर्तन का नेतृत्व किया और व्यक्ति-चेतना के निर्माण में समाज, परंपरा और आर्थिक परिस्थितियों की भूमिका को रेखांकित करने वाली कहानियों की न सिर्फ रचना की, बल्कि ऐसे वातावरण का भी निर्माण किया जिससे हिन्दी कहानी की नयी जमीन की, हिन्दी के पाठक समुदाय में व्यापक स्वीकृति बनी। नई कहानी आन्दोलन में उनके साथ जो दो अन्य कथाकार सक्रिय रहे वे हैं-राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश। नई कहानी आन्दोलन की समय सीमा सन् 1954 से 1963 के बीच मानी जाती है। कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया' इसी नाम से सन् 1957 में प्रकाशित उनके संकलन में सम्मिलित है। पहले से चली आती हुई कहानी के कथ्य और

शिल्प को तोड़ते हुए नये कथ्य और नये शिल्प की भंगिमा के साथ उनके और संकलन भी इसी अवधि में प्रकाशित हुए। 'राजा निरबंसिया' (1957) के बाद 'कस्बे का आदमी' (1958), 'खोई हुई दिशाएँ' (1963), 'मांस का दरिया' (1966), 'बयान' (1973) आदि। इन संकलनों की कहानियाँ समय के भयावह दबाव के बीच औसत निम्न मध्यवर्गीय कस्बाई व्यक्ति-पात्र के जीवन-संघर्ष के प्रामाणिक दस्तावेज की तरह हैं। इस दृष्टि से, नयी कहानी आन्दोलन के दौर में 'राजा निरबंसिया', 'खोई हुई दिशाएँ', 'मांस का दरिया', 'जार्ज पंचम की नाक', 'अपना एकांत' जैसी कहानियाँ नई कहानी के उदाहरण के तौर पर देखी गयीं और पर्याप्त चर्चित भी हुई।

4.2 नई कहानी : सामान्य परिचय

हिन्दी कहानी को एक बड़ा फलक देने और उसे स्थूल घटनात्मकता और मनोरंजकता से ऊपर उठाकर मानव जीवन के चित्रण का माध्यम बनाने का श्रेय प्रेमचन्द को दिया जाता है। उन्होंने हिन्दी कहानी को मनुष्य की आशा-आकांक्षा, जय-पराजय और समाज की परिस्थितियों में उसकी नियति के आकलन का विषय बनाकर प्रतिष्ठित किया और अपने समकालीनों को तो प्रभावित किया ही अपने बाद के लेखकों को भी एक नई दृष्टि दी। प्रगतिशील लेखक संघ (1936) के पहले अधिवेशन में उन्होंने साहित्य की सोदेश्यता का उद्घोष करते हुए मानदण्डों को बदलने की जिस ऐतिहासिक आवश्यकता पर जोर दिया उसने बाद के समूचे साहित्य-परिदृश्य को एक नई रोशनी दी। बालकृष्ण भट्ट के निबंध 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास' है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबंध 'कवि कर्तव्य' तथा रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध 'कविता क्या है?' में नयी सामाजिक जरूरतों के परिप्रेक्ष्य में साहित्य एवं रचनाकारों से जो अपेक्षाएँ की गयी थीं-प्रेमचन्द ने उन अपेक्षाओं को एक ठोस धरातल पर नयी रचना-परिस्थितियों और सामाजिक पुनर्निर्माण के लक्ष्य के साथ चुनौतीपूर्ण ढंग से सामने रखा। यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि प्रेमचन्द के इस आह्वान ने साहित्य और साहित्यकारों को बहुत गहराई से प्रभावित किया। कहानी की नयी अन्तर्वस्तु और शिल्प पर विचार करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रेमचन्द के परवर्ती दौर में ही हिन्दी कहानियों में बदलाव के संकेत मिलने लगे थे। इन नवीन संकेतों और सत्य के पुराविष्कार का लक्ष्य सामने रखकर जो कथाकार सक्रिय हुए उनमें जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, अज्ञेय और अश्व महत्त्वपूर्ण हैं। सन् 1930 के बाद की प्रेमचन्द की कहानियों में भी, कथ्य और शिल्प-दोनों ही दृष्टियों से, पर्याप्त नवीनता लक्षित की जाती रही है। जब भी नई कहानी के उद्गम-सूत्र ढूँढ़ने की कोशिश होती है तो, प्रेमचन्द की 'नशा', 'बड़े भाई साहब', 'सद्गति' और 'कफन' जैसी कहानियों की भी चर्चा की जाती है।

द्वितीय महायुद्ध और युद्ध के बाद मिली स्वतन्त्रता, देश के विभाजन की पीड़ा के बावजूद आशा और विकास के सपनों का संसार कुछ समय तक आम भारतीय की चेतना को बाँधे रख सका, परन्तु शीघ्र ही उन सपनों की ऐसी तैसी होने लगी और यथार्थ-बोध का एक नया बदला हुआ स्वरूप हिन्दी कहानियों में दिखाई पड़ा। गाँव, कस्बे, नगर, महानगर में जी रहे आदमी की पीड़ा को, उसकी जिन्दगी के अनेक सन्दर्भों और सीमाओं में व्याप्त और निरन्तर गहरी होती जा रही जटिलता को, समग्रता में व्यक्त करने की बेचैनी बढ़ी। 'रेणु' की कहानियों में जीवन के वर्तमान ढाँचे के प्रति तीखा व्यंग्य अंचल विशेष की कथा के रूप में दिखाई पड़ा तो शिवप्रसाद सिंह ने गाँवों की जिन्दगी से इस यथार्थ को पकड़ने और व्यक्त करने की चेष्टा की। कमलेश्वर ने अपने ढंग से इसी यथार्थ को कस्बाई जीवन से ग्रहण किया तो मोहन राकेश ने नगर और महानगर के जीवन के तनावों के चित्रण के लिए व्यक्ति-पात्रों का सृजन किया। डॉ. बच्चन सिंह की टिप्पणी द्रष्टव्य है- 'परम्परागत

हिन्दी कहानियों से अलगाने के लिए इन्हें नई कहानियाँ कहा जाने लगा। वस्तुतः ‘नई कहानियाँ’ नाम नई कविता के तर्ज पर रखा गया। कुछ लोग इन कहानियों को पूर्ववर्ती पीढ़ी की कहानियों का विकास मानते हैं और कुछ परम्परा से कटकर या उसे अस्वीकार कर इसे एकदम नई कहने को ही उपयुक्त मानते हैं। वस्तुतः इन नामों में कुछ अर्थपूर्ण नहीं है। नई कहानी से भी अपने को अलगाने के लिए और-और नाम रखे गये-सचेतन कहानी, अकहानी आदि। युग परिवर्तन के साथ कहानी की प्रवृत्तियाँ भी बदलती ही रही हैं, बदलती भी रहेंगी।’

नई संवेदना और शिल्प के साथ कहानी-रचना में प्रवृत्त निर्मल वर्मा को पहला नया कहानीकार माना गया है-जिनका कथा-संसार बोध और शिल्प के स्तरों पर विविध एवं लक्ष्य के स्तर पर ‘एलीट’ है-उसमें ‘परिन्दे’ जैसी गीतिधर्मी, ‘लन्दन की एक रात’ जैसी कठोर वस्तु बोध की एवं ‘पहाड़’ जैसी सादगी में ही विशिष्ट सांकेतिक अभिप्राय का निर्वाह करने वाली कहानियाँ हैं। आधुनिकता बोध की इन कहानियों का फलक अत्यन्त विस्तृत है और उसके रचनाकारों की दृष्टि अत्यन्त व्यापक। ‘जहाँ लक्ष्मी कैद है’, ‘टूटना’, ‘प्रतीक्षा’ (राजेन्द्र यादव), ‘मिसपाल’, ‘आर्द्रा’, ‘मलबे का मालिक’ (मोहन राकेश) ‘जिन्दगी और जोंक’ ‘दोपहर का भोजन’ (अमरकान्त), चीफ की दावत, इन्द्रजाल, पट्टियाँ, अमृतसर आ गया है (भीष्म साहनी), ठुमरी, तीसरी कसम, रसप्रिया (रेणु), वापसी (उषा प्रियम्बदा) जैसी कहानियों ने जीवन-यथार्थ-केन्द्रित कहानी की परम्परा में न सिर्फ अपनी जगह बनायी है बल्कि उसे आगे भी बढ़ाया है। इन कहानियों का तेवर अपनी पूर्ववर्ती कहानियों से पृथक् और नया है तो इसलिए कि इनमें कला के सत्य और काव्य के सत्य के स्थान पर परिस्थिति के सत्य की विवशता है। उनमें संदेह नहीं-मानवीय अनुभवों का तटस्थ और बारीक चित्रण है, इसलिए इनके मूल्यांकन के लिए विशद रचनादृष्टि रचनात्मक अनुभूति और सांकेतिकता की समझ अनिवार्य है।

श्री भैरव प्रसाद गुप्त के सम्पादन में निकलने वाली पत्रिका ‘नई कहानियाँ’ के वर्षगाँठ विशेषांक (1961 ई.) में राजेन्द्र यादव ने ‘आज की कहानी : परिभाषा के सूत्र’ शीर्षक लेख में नई कहानियों को परिभाषित करते हुए लिखा-“कथाकार व्यक्ति को उसकी समग्रता में देखने का आग्रह करता है। व्यक्ति को उसके सामाजिक परिवेश, मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों तथा व्यावहारिक जीवन के तकाजों और आवश्यकताओं की एक संश्लिष्ट प्रक्रिया के रूप में पाना उसका लक्ष्य है।” ‘नई कहानी’ की शुरुआत के बिन्दुओं की खोज करते हुए ‘कफन’ तक का उल्लेख किया गया है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द की बाद की कुछ कहानियाँ प्रारंभ की कहानियों की तुलना में बोध और शिल्प के स्तर पर सर्वथा अलग हैं। यह अलगाव नयेपन की ओर इशारा करने वाला है। इसी प्रकार प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र, अज्ञेय, अशक, यशपाल आदि कहानीकारों तथा मुक्तिबोध जैसे कुछ कवियों की कहानियाँ अलग तरह के भाव और बोध को सामने लेकर आती हैं। जीवन और समय की गति के साथ सम्बन्ध बनाते हुए चलने वाली रचनाएँ हमेशा पुरानेपन के मोह को छोड़ते हुए आगे बढ़ती रहती हैं। कविता हो या कहानी, वह जब भी जीवन की परिस्थितियों को आत्मसात करेगी तो पहले की तुलना में बदलेगी। यह बदलाव ही नवीनता की संज्ञा से जुड़ता है। इसी न्याय से नयी कहानी भी सन् 1950 ई. के पहले की कहानियों की तुलना में नयी है। नयी कहानी के समय और नामकरण को लेकर पर्याप्त चर्चा के बाद लगभग स्थिर हो चुका है कि सन् 1954 से 1962 के बीच नयी कहानी पूरी तरह स्थापित हो गयी थी। ‘नयी कहानी’ पत्रिका के स्थायी स्तंभ ‘हाशिए पर’ के अन्तर्गत नामवर सिंह ने अनेक नयी कहानियों का अपनी दृष्टि से विश्लेषण-विवेचन किया। सन् 1965 में देवीशंकर अवस्थी ने ‘नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति’ शीर्षक पुस्तक में नयी कहानी के मूल्यांकन और विश्लेषण सम्बन्धी लेखों को संकलित करके एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

नयी कहानी की सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार किया जाय तो देखा जा सकता है कि नयी कहानी की प्रमुख प्रवृत्ति जटिल होते हुए जीवन-यथार्थ को चित्रित करना है। ऐसा नहीं कि इसके पूर्व की कहानियों में यथार्थ की स्वीकृति नहीं थी, यथार्थ वहाँ भी था पर वहाँ यथार्थ-चित्रण आदर्श की स्थापना में अपना लक्ष्य खोजता था। कहानीकार हर परिस्थिति में ऐसे पात्र और ऐसी जीवन स्थितियों को सामने लाता था जिसमें आदर्श की स्थापना हो जाती थी। किन्तु नयी कहानी के दौर का कहानीकार, कल्पित आदर्श की स्थापना को जीवन-यथार्थ के चित्रण में व्यवधान की तरह देखता है और परिस्थिति की निर्ममता से व्यक्ति चेतना की जो मुड़भेड़ होती है हर स्थिति में उसे चित्रित करता है। 'माँस का दरिया' के आत्मकथ्य में कमलेश्वर ने स्वीकार किया है, "नयी कहानी आग्रहों की कहानी नहीं है, प्रवृत्तियों की हो सकती है और उसका मूल स्रोत है-जीवन का यथार्थबोध और इस यथार्थबोध को लेकर चलनेवाला वह विराट मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग है, जो अपनी जीवन शक्ति से आज के दुर्दान्त संकट को जाने अनजाने झेल रहा है। उसका केन्द्रीय पात्र है (अपने विविध रूपों और परिवेशों में) जीवन को वहन करने वाला व्यक्ति।" स्वाधीनता मिलने के एक दशक बाद उससे जुड़े सपनों का टूटना-बिखरना इतना दारुण सच है कि उसने एक बड़े मोह-भंग का रूप लिया। इस मोह-भंग ने भारतीय जन-जीवन के भीतर शेष बची आस्था और विश्वास को खण्डित किया। राजेन्द्र यादव ने 'एक दुनिया समानान्तर' की भूमिका में इन स्थितियों में लेखक के दायित्व और उसकी विवशता को महसूस करते हुए लिखा है "अगर शुभ और महान झूठा है, अगर पारिवारिक, नैतिक और सामाजिक सम्बन्ध बिखर रहे हैं, अगर व्यक्ति हार और टूट रहा है, अगर आदमी क्षुद्र और ओछा है और अगर सामने कोई रास्ता नहीं है तो वही सही। उसे वही सब स्वीकार है। वही उसकी रचनाओं से उभरे वही उसकी कूँची और कलम से आये..... लेकिन आये बिना लाग लपेट के; निर्ममता और तटस्थता के साथ.....अब कोई रेशमी पर्दा नहीं, कोई अपराधभाव या पलायन नहीं, कोई खेद और क्षमा नहीं, ...वास्तविकता को पूरी प्रामाणिकता के साथ, पूरी सच्चाई के साथ और अपनी संपूर्ण संश्लिष्टता के साथ उभरने दो.....।" नयी जीवन-स्थितियों, विकास और तकनीक की नयी परियोजनाओं के साथ ही दम तोड़ते नागरिक विवेक के सपनों के साथ बना रहा व्यक्ति-मन और उसमें जमे हुए आस्था और विश्वास के गहरे संस्कारों ने एक ऐसी जटिल स्थिति को जन्म दिया है कि जीवन की जटिलता के साथ यथार्थ भी जटिल हुआ है। नयी कहानी का लेखन इस जटिल जीवन-यथार्थ को पकड़ने, व्यक्त करने और अपने पात्रों के साथ अपने पाठक तक पहुँचाने के लिए संकल्पित था। यह खुद उसके जीवन से भी जुड़ा और भिड़ा हुआ यथार्थ था।

नयी कहानी आन्दोलन के साथ जुड़े हिन्दी के प्रायः सभी कहानीकार मध्यवर्गीय-जीवन से जुड़े रहे हैं, बल्कि इसी वर्ग से आये हुए हैं इसलिए इस आन्दोलन का बहुत गहरा जुड़ाव मध्यवर्गीय जीवन स्थितियों और उससे उपजने वाली चेतना से रहा है। यों तो हिन्दी का ज्यादातर कथा साहित्य मध्यवर्गीय चेतना से जुड़ा रहा है किन्तु कहानी में रचनात्मक स्तर पर प्रवृत्ति के तौर पर इसका प्रभाव नयी कहानी आन्दोलन में ही दिखाई देता है। औपनिवेशिक और औद्योगिक सभ्यता ने मध्यवर्ग का प्रसार किया था। मध्यवर्ग आमतौर पर श्रम की संस्कृति से कटा हुआ, निश्चित आमदनी में अपनी दिनचर्या को जीता हुआ निम्न वर्ग पर शासन करने की सामन्ती आकांक्षा से लदा हुआ तथा उच्च वर्ग की तरह की सुख-सुविधाओं की आकांक्षा से दबा हुआ, जोखिम न लेने वाला आत्म-मुग्ध समुदाय रहा है। मध्यवर्ग शिक्षित और संवेदनशील तो होता है पर उसमें शिक्षा और संवेदना के संस्कारों को चरितार्थ करने की जो आकांक्षा होती है उसे आर्थिक दबाव अक्सर तोड़ते रहते हैं। इस कारण उसमें एक विवशता भी होती है जो उसकी पीड़ा और क्षोभ का कारण बनती है। मध्यवर्ग अपनी सुविधाओं को किसी भी कीमत पर छोड़ना नहीं चाहता है इसलिए उसमें परिवर्तन की अपनी ही बलवती इच्छा भी अक्सर दम तोड़ देती

है। ये स्थितियाँ लेखक के भीतर क्षोभ उत्पन्न करती हैं। नयी कहानी के दौर की प्रायः सभी कहानियाँ इसी वर्ग को ध्यान में रख कर लिखी गयी हैं। उच्च वर्ग और निम्न वर्ग का चित्रण भी हुआ है परन्तु वह भी इसी वर्ग की मनोवृत्तियों, पीड़ा, दुख, विवशता और जटिलता के चित्रों को स्पष्ट करने के लिए प्रतीत होता है। मध्यवर्ग में उच्च वर्ग की आकांक्षाएँ और निम्न वर्ग की विवशताएँ एक साथ होती हैं इसलिए इसका चरित बहुत जटिल और दोमुँहा होता है। नयी कहानी के लेखक इसी वर्ग के थे इसलिए इस वर्ग का बहुत विश्वसनीय वर्णन उनकी कहानियों में संभव हुआ है।

नयी कहानी में व्यक्ति-चेतना को भी महत्त्व दिया गया है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वहाँ समाज अनुपस्थित है। समाज की केन्द्रीयता की जगह पर नयी कहानी में व्यक्ति की केन्द्रीयता है। नयी कहानी की पूर्ववर्ती कहानियों में कहानीकार समाज के माध्यम से व्यक्ति-पात्र तक पहुँचता था, सामाजिक मूल्य और मर्यादाएँ, समाजसुधार आदि वहाँ महत्त्वपूर्ण थे क्योंकि उस समय तक आदर्श की स्थापना का लक्ष्य कायम था। स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में समाज और राष्ट्र को केन्द्र में रखकर देखने के कारण व्यक्ति समाज के लिए सामने आता था। नयी कहानी के दौर में यह स्थिति बदल गयी और व्यक्ति को उसके परिवेश में देखा जाने लगा है। पहले की तरह उसकी मर्यादा गौण नहीं रह गयी बल्कि उसकी प्रधानता हो गयी। नयी कहानी के दौर में हम पात्रों की व्यक्ति चेतना के सहारे समाज तक पहुँचते हैं। नयी कहानी का व्यक्ति-मन भावुक और आदर्श जीवी नहीं रह गया था इसलिए नयी कहानी के पात्र प्रेम के उन आदर्शों से नहीं जुड़ते हैं जहाँ अपने को न्यौछावर कर देने का भाव दिखाई देता है। नयी कहानी के दौर के पात्र प्रेम की उन सभी स्थितियों से गुजरते हैं जो उसमें संभव होती हैं, परन्तु वे उन सभी स्थितियों में जीवन की अन्य स्थितियों से भी जुड़े रहते हैं-यहाँ संवेदना है पर छिछली भावुकता नहीं। नयी कहानी बौद्धिक चेतना से जुड़ी हुई है इसीलिए यहाँ एक तार्किक परिणति है। तीव्र भावावेग जो पूर्ववर्ती हिन्दी कहानी के चरित्र में बहुत महत्त्वपूर्ण था, नयी कहानी के दौर में कमजोर पड़ा और उसकी जगह पर नयी सामाजिक स्थितियों और व्यक्ति चेतना के बीच का द्वन्द्व एवं तनाव महत्त्वपूर्ण हुआ है।

नयी कहानी के समय तक आते आते विचार और लेखन में परम्परा की जगह आधुनिक जीवन मूल्यों का वर्चस्व बढ़ता गया। नयी कहानियों का ‘नयापन’ बोध के स्तर पर आधुनिकता से जुड़ा। साहित्य सृजन और विचार की दुनिया में अनुभव किया गया कि आधुनिकता कोई निषेधमूलक स्थिति नहीं है बल्कि उसमें बहुत कुछ ऐसा है जिसे सहेजा जाना चाहिए। हालाँकि निराशा-बोध, अवसाद, यांत्रिक दबाव में मनुष्य की विवशता की नियति आदि भी इसी दौर में सामने आये और लेखकों ने अपनी रचनाओं में इन स्थितियों का सर्जनात्मक विनियोग किया। उस समय की सभी साहित्यिक विधाओं पर इस प्रभाव को देखा जा सकता है। ‘नयी कहानी’ के साथ सांकेतिकता का भी सम्बन्ध गहरे स्तर पर अनुभव किया गया। मोहन राकेश ने नयी कहानी की उपलब्धियों का आकलन करते हुए सांकेतिकता को भी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि स्वीकार किया है। यह सांकेतिकता कहानी के गठन और विषय-वस्तु दोनों में एक साथ आई। मोहन राकेश का कथन है “जहाँ तक कहानी की आन्तरिक उपलब्धियों का सम्बन्ध है, उनमें सांकेतिकता को कहानी की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है। पुरानी कहानी से नयी कहानी इस अर्थ में अलग होती है कि उसमें सांकेतिकता का विस्तार पहले से भिन्न स्तरों पर होता है।” सांकेतिकता नयी कहानी के कथ्य की माँग है और वह उसके शिल्प की भी जरूरत है। हालाँकि अनेक कहानियों में फ्रायड के काम-मनोविज्ञान के प्रभाव में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया गया है उनमें अधिकांश में उसी के कारण जटिलता आ गयी है और वे कहानी को समझने में पाठक की सहायता करने के बदले कठिनाई उत्पन्न करते हैं।

जीवन की जटिलता को व्यक्त करने के लिए सांकेतिकता का सहारा लिया गया है इसके द्वारा जीवन-बोध की सूक्ष्मता को भी व्यक्त किया गया है।

साहित्य की कोई भी विधा शिल्प-विधान के बिना संभव नहीं है। विशेष शिल्प ही उसे विशिष्ट विधा के रूप में स्थापित करता है। नयी कहानी भी नूतन शिल्प के साथ अपना महत्त्व बनाने में कामयाब हुई है। अनुभूति की विशिष्टता की अभिव्यक्ति के लिए शिल्प की विशिष्टता भी अपरिहार्य होती है। नयी स्थिति, नयी संवेदना और नया अनुभव नये रूप में ही व्यक्त हो सकता है। गतिशीलता और परिवर्तन जीवन की अनिवार्य प्रक्रिया है-यह बात रचना के लिए भी जीवन की तरह ही सत्य है। नयी कहानी ने अपना नया शिल्प भी अर्जित किया है। उपेन्द्रनाथ अशक के शब्दों में “दृष्टि बदली मानव और जीवन को देखने का ढंग बदला तो कहानी का शिल्प भी बदला। पहले की सी कथानक-प्रधान झटका देने वाली और मधुर टीस उत्पन्न करने वाली गठी-गठायी कहानियों के बदले जीवन की गहमागहमी, रंगारंगी, कटु यथार्थता, जटिलता, संश्लिष्टता का प्रतिबिम्ब लिए हुए सीधे-सादे स्केच की सी, निबंध की सी, संस्मरण या यात्रा विवरण की सी, कुछ प्रभावों अथवा स्मृतियों के गुंफन मात्र, वर्णनात्मक, चित्रात्मक, ऊपरी पन्नों अथवा पन्नों का रूप लिए हुए एक ओर लोक-कथा और दूसरी ओर उपन्यास के हदों को छूती हुई तरह-तरह की कहानियाँ लिखी जाने लगीं।” जिन्दगी के बदलते हुए ढर्रे में आई जटिलता एवं अन्तर्द्वन्द्वों को व्यक्त करने के लिए बिम्बों, संगीत की ध्वनियों, चित्रों, प्रतीकों एवं संकेतों का सहारा लिया गया। रूप-गठन को पहले से अलग करके पठनीय और नया बनाने के लिए लोक कथात्मकता को स्वीकार करते हुए ‘पंचतंत्र’ तथा ‘सिंहासन बतीसी’ के शिल्प को भी अपनाया गया। कमलेश्वर ने दो कहानियों को साथ रखकर समानान्तर कथा-शिल्प का आकर्षक और सार्थक शिल्प भी अपनाया। ‘राजा निरबंसिया’ इसका अच्छा उदाहरण भी है।

4.3 राजा निरबंसिया : पाठ-बोध और प्रक्रिया

जैसा कि कहा गया है कि कमलेश्वर नयी कहानी के पुरोधाओं में से एक रहे हैं, लेकिन वहीं तक अपने को सीमित नहीं रखा। उन्होंने स्वतंत्र भारत की बदल रही परिस्थितियों और परिवेश को अपनी रचनात्मकता का विषय बनाया। परिस्थितियों के दबाव में कराह रही व्यक्ति-चेतना, बदल रही राजनीतिक शैली, मुद्दों से भटक रही राजनीति, निम्न और मध्यवर्गीय आदमी की उपेक्षा कर रही अर्थव्यवस्था, लगातार बढ़ रही विषमता छीज रही संवेदना और अनुत्तरदायी सत्ता-व्यवस्था में बिखर रहे सपनों को जिस रचनात्मक कौशल से कमलेश्वर ने पाठक तक पहुँचाया है वह प्रेमचन्द के बाद समृद्ध कथा-परम्परा की एक मिसाल है। कहानी में शिल्प के जितने प्रयोग कमलेश्वर ने किये नयी कहानी के दूसरे लेखकों ने नहीं। “नयी कहानी के व्रती लेखकों-मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर-में कमलेश्वर ही ऐसे हैं जिन्होंने सामाजिक विसंगतियों, टूटते हुए जीवन-मूल्यों, बढ़ते हुए भ्रष्टाचार और व्यक्ति के अमानवीकरण को वाणी देने का निरन्तर प्रयत्न किया है।” (डॉ. रामचन्द्र तिवारी : हिन्दी का गद्य साहित्य) क्योंकि कमलेश्वर की प्रतिबद्धता किसी एक आन्दोलन के साथ नहीं थी और वे एक ईमानदार रचनाकार थे इसलिए उन्होंने बदलती हुई सच्चाई और परिस्थितियों के बीच में मनुष्य की चेतना को बदलने और संवेदना को बचाने के लिए अपने को निरन्तर बदलते रहने में कभी कोई संकोच नहीं किया। उनका यह बदलाव भारतीय जन की उनकी प्रतिबद्धता के साथ जुड़ा था, इसे कोई भी और तत्त्व कभी प्रभावित नहीं कर पाया।

कमलेश्वर का जन्म मैनपुरी कस्बे के एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। मध्यवर्ग हमेशा से उच्च वर्ग के सपनों एवं सामंती मूल्यों का वाहक रहा है। कमलेश्वर ने अपनी आत्मकथा में इस ओर संकेत भी किया है कि “मैं कुछ ऐसे अधकचरे मध्यवर्ग से आया था जो धरती से निरंतर कटता जा रहा था और अपने संस्कारों में ज्यादा कुलीन होता जा रहा था।” अबोध बचपन में ही पिता की स्नेह छाया से वंचित हो जाना, तथा परिवार के भविष्य को संभालने वाले बड़े भाई सिद्धार्थ का भी असमय चले जाना परिवार को विवश और जर्जर कर जाता है। उन दिनों का वर्णन कमलेश्वर ने इन शब्दों में किया है, “घर, बीते हुए और आगे आने वाले समय के बीच जी रहा था। वर्तमान इन्हीं दो छोरों के सहारे लटका हुआ था। जो बीत गया था, वह बहुत गौरवपूर्ण, गरिमामय और महान था। जो आने वाला था, वह बहुत अच्छा, खुशनुमा और आराम देह होगा, क्योंकि सिद्धार्थ बहुत होनहार थे। तभी सिद्धार्थ की मृत्यु हो गयी और अमीर कहे जाने वाले घर में गरीब की तरह रहना, खाना खाकर भी भूखा उठना, अकुलाहट भरे दुःखों के बीच हँस सकना, बच्चा होते हुए वयस्कों की तरह निर्णय ले सकना मेरी मजबूरी बन गयी थी।” इस विपरीत परिस्थिति में भी कमलेश्वर की शिक्षा चलती रही और तमाम प्रतिकूल पारिवारिक परिस्थितियों के बीच, जिसमें सौतेले बड़े भाई की कमलेश्वर की आगे की पढ़ाई के प्रति अरुचि और असहयोग भी था, कमलेश्वर ऊँची शिक्षा के लिए इलाहाबाद गये। इलाहाबाद में क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में जीवन को नयी दिशा और ऊर्जा मिली जिसे कमलेश्वर ने ‘अपनी संचित थाती’ की तरह सहेज कर रखा और जिससे ‘उनकी रचनात्मकता को भारी संबल’ मिला। अपने समकालीनों में जितने लोकप्रिय कमलेश्वर जी हुए कम लोग होते हैं। उन्हें सबको विश्वास और सबकी अन्तरंगता मिली, सब उनकी रचनात्मक प्रतिभा के कायल भी थे। कहा जाता है कि एक कमलेश्वर के भीतर कितने कमलेश्वर थे-नयी कहानी वाले कमलेश्वर, समान्तर कहानी वाले कमलेश्वर, अपने समकालीनों के बीच आम आदमी के सवाल पर तीखी बहस करते कमलेश्वर, सत्ता के खिलाफ जूझने का वातावरण बनाते कमलेश्वर, उपन्यासकार कमलेश्वर, फिल्मी पटकथा-संवाद लेखक कमलेश्वर, संपादक कमलेश्वर, छोटे पर्दे को नये आयाम देते कमलेश्वर। दैनिक अखबारों में दूरगामी प्रभाव वाली रोजमर्रा की घटनाओं पर विचारोत्तेजक टिप्पणियाँ करने वाले कमलेश्वर। इन सारे रूपों में कमलेश्वर निश्चित ही एक कथाकार के रूप में ही महत्त्वपूर्ण हैं और वही उनके स्थायी महत्त्व का आलम्बन भी है।

कमलेश्वर, जीवन भर मैनपुरी कस्बे को लिखते रहे। वहाँ के दुःख दर्द को, वहाँ की चहल पहल के बीच पसरते जा रहे अवसाद को कमलेश्वर ने प्रगतिशील जीवन दृष्टि के आधार पर अपनी कहानियों का विषय बनाया। वहाँ के कस्बाई निम्न मध्यवर्ग के वर्ग-वैषम्य, शोषण और सामाजिक असमानता का वर्णन इस लेखक ने राजनीतिक दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर नहीं किया है। जीवन के संघर्षों से निकली हुई उनकी रचना-दृष्टि हर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के बीच किसी न किसी रूप में मिल जाती है। कमलेश्वर के लिए कहानी लिखना “व्यवसाय नहीं विश्वास है यातना नहीं, यातनापूर्ण हैं वे कारण जो मुझे कहानी लिखने के लिए मजबूर करते हैं।” शायद इसीलिए दुष्यंत कुमार कहते हैं कि “उसकी कहानी उसके जीवनानुभवों में से निकली है। उसने पढ़-पढ़कर संक्रान्ति को नहीं झेला है, बल्कि स्वयं जिया है।”

कमलेश्वर जिन्दगी को बेहतर बनाने के लिए जूझते हुए चरित्रों के सर्जक हैं। उनके कथा-पात्र उनके जीवनानुभवों से निकलते हैं, किसी दर्शन से नहीं, हालांकि उनके पास एक ऐसा जीवन दर्शन है जो उन्हें भारत के आम आदमी की हालत से जोड़ता है और उनके जीवनानुभवों को जीवंतता प्रदान करता है। कमलेश्वर की पहली कहानी ‘फरार’ सन् 1945 में कानपुर से निकलने वाली ‘जयभारत’ नामक पत्रिका में छपी थी। हालाँकि

बहुत दिनों तक 'कामरेड' नामक कहानी को उनकी पहली कहानी माना जाता रहा, जो सन् 47-48 में एटा से निकलने वाली पत्रिका 'अप्सरा' में छपी थी। उनका पहला कहानी संग्रह 'राजा निरबंसिया' 1957 में छपा और तबसे परिस्थितियाँ बदलती रहीं, देश-समाज और सरकारें बदलती रहीं, पर नहीं बदली कमलेश्वर की लेखकीय प्रतिबद्धता जो अपना सब कुछ दाँव पर लगाकर भी व्यवस्था में पल-बढ़ रही विकृतियों के बीच पिसते हुए निम्नमध्यवर्गीय आदमी की हालत को समझाने के अथक उद्यम में लगी रही। यों कमलेश्वर के कथाविकास को उन्हीं के शब्दों में तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है-

पहला दौर : परम्परा से विद्रोह और अनुभव क्षेत्र की प्रामाणिक पहचान (सन् 1952 से 1958/59 ई. तक)

दूसरा दौर : समय संगत यथार्थ का स्वीकार : दारुण और विसंग संदर्भों की समझ (सन् 1959 से 1966 ई. तक)

तीसरा दौर : सामान्य आदमी की नियति से जुड़ा लेखन, यातनाओं के जंगल से गुजरते हुए मनुष्य के साथ समांतर चलने का उपक्रम (सन् 1966 से दिल्ली लौटने तक)

कथा-विकास का यह क्रम उनकी अनुभव संपदा की कलात्मक प्रौढ़ता को समझने की सुविधा मात्र के लिए है। दरअसल ये तीनों दौर और इनकी अलग अलग रेखांकित की जाने वाली विशेषताएं एक दूसरे में इस तरह अनुस्यूत हैं कि इनके बीच में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा उभरती हुई प्रतीत नहीं होती है। जैसा कि बताया गया है 'राजा निरबंसिया' कहानी नये हिन्दी कथा दौर की एक महत्वपूर्ण कहानी है जो अपने शिल्प और चेतना के कारण पहले के दौर से स्पष्ट अलग दिखती है। यह कहानी एक साथ दो कथा-वृत्तों को रचती है। एक कथा-वृत्त परंपरित कथा-शैली में है जो राजा-रानी के सहारे आकार ग्रहण करता है और उसी के समांतर वर्तमान जीवन की विसंगति को व्यक्त करने वाली एक कलात्मक रचना है जो राजा-रानी कहानी के साथ चलते हुए उसमें भी अपने संकेत छोड़ती रहती है। भारतीय जनजीवन में वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ वर्गीय चेतना-दृष्टि और तदनुसार परिवर्तित जीवन-मूल्यों का संक्रमण इस कहानी में कटु यथार्थ के रूप में वर्णित है।

स्त्री-पुरुष संबंधों की एक दारुण और रोमांचक कथा राजा निरबंसिया और रानी लक्ष्मी के जीवन की है, तो परिस्थितियों के दबाव में विकसित हो रही नयी कहानी के अनुरूप स्त्री-पुरुष संबंधों में आर्थिक और सामाजिक कारणों से बदलाव की चिंता भी उक्त कहानी में है। राजा निरबंसिया की रानी लक्ष्मी को मातृत्व सिद्ध करने, पति को प्रसन्न और चरित्र की शुचिता के लिए पारंपरिक लोक-शिल्प में सतीत्व सिद्ध करने के लिए तपस्या करनी पड़ी और जगपती की पत्नी चन्दा को पुंसत्वहीन पति के आरोप-प्रत्यारोप, उपेक्षा और अलगाव-बोध को सहना पड़ा। आधुनिक युग का जगपती (नाम के अर्थ पर गौर करना चाहिए) अपनी पत्नी के गर्भ में दूसरे के बच्चे को बढ़ता हुआ जानकर एक बार उसे अपमानित और बहिष्कृत करता है और पैसे की तंगी के कारण खुद ही उसे बचनसिंह के साथ बेच देने की त्रासद बेचैनी और मार्मिकता के दंश से पुनः संतान सहित अपनाने की वसीयत लिखकर, उसी के हाथों अपने दाहसंस्कार की बात कहते हुए प्रायश्चित्त करता है, अपने शंकालु स्वभाव और चरित्र की कमजोरी के कारण; पर पारंपरिक समाज की कथा का राजा निरबंसिया स्वयं पलायन करता है।

'राजा निरबंसिया' कहानी का कथ्य दो समानांतर कथा-प्रसंगों में आगे बढ़ता है। एक राजा निरबंसिया थे, कि कहानी पुरानी कथा-शैली में माँ सुनाती है। कथा का वाचक,

नितान्त आत्मीय और अन्तरंग इतिवृत्तात्मक शैली में अपने साथ पढ़ने वाले युवक जगपती की कथा कहता है। कथा का वाचक मैट्रिक पास करके स्कूल में नौकरी पाता है और उसका सहपाठी करबे के वकील का मुहर्रिर बनता है। जिस साल जगपती मुहर्रिर बनता है उसी साल उसकी शादी पास के गाँव की एक थोड़ी पढ़ी लिखी लड़की चन्दा से होती है। विदाई अपनी-अपनी कुल-परंपरा के आधार पर कराने की बात पर दोनों पक्षों में झकझक होती है। बारात वधू को लिये बिना वापस आती है, पर साल ख़त्म होते न होते सुलह होती है। लड़की वालों के माफ़ी माँग लेने पर लड़के वाले अपनी उच्चता की सर्वमान्य स्वीकृति से पसीज जाते हैं और चन्दा जगपती के घर आ जाती है। जगपती की माँ चार बरस बाद भी अपनी गोद में पौत्र का मुख देखना नसीब न होकर काल-कवलित हो जाती है। चन्दा घर की सब कुंडियों की खनक, हर दरवाज़े की चरमराहट और कुल-देवता के अंश को पूजने में अपनी पहचान पाने लगती है घर को उसने और घर ने उसको पूरी तरह अपना लिया जगपती और चन्दा की खुशियों को जैसे पंख लग गए। जगपती की माँ चार बरस तक जगपती की सन्तान को गोद में खिला न पाने का अफसोस समेटे चन्दा को समझाते हुए कि जगपती का ख्याल रखना तथा भाई पट्टीदारों से सतर्क रहना स्वर्ग सिंधार गई।

राजा निरबंसिया की कहानी भी जारी है। आखेट पर गये राजा जब सातवें दिन तक नहीं लौटते, तो रानी एक मंत्री को साथ लेकर उनकी तलाश में निकलती है।

इधर जगपती अपनी रिश्तेदारी में दूर के भाई दयाराम की शादी में जाता है। बारात के घर लौटने पर डाका पड़ जाता है। डाकुओं की गोली से कोहराम मच जाता है, लेकिन दयाराम और जगपती जवानी के जोश में डाकुओं की गोली-बारी का मुकाबला तेल-पिलाई लाठियों से करते हैं, इस सीधी लड़ाई में एक गोली जांघ में और दूसरी जांघ के ऊपर कूल्हे में लगने पर जगपती घायलावस्था में अस्पताल की शरण पाता है। कमलेश्वर ने गाँव-कस्बों के अस्पतालों का दारुण चित्र खींचा है। जहाँ डॉक्टर सिर्फ बड़े लोगों को देखता है, बड़े शहर में रहता है। अस्पताल, दवाखाना और मरीजों की मुकम्मल देखभाल कम्पाउण्डर के भरोसे चलती रहती है। “अस्पताल में या तो फौजदारी के शहीद आते या गिर-गिरा के हाथ, पैर तोड़ लेने वाले लोग। छठे-छमासे कोई औरत दिख गयी तो दिख गयी। कभी कोई बीमार पड़ती, तो घरवाले हाल बता के आठ दस रोज़ की दवा एक साथ ले जाते और फिर उसके जीने मरने की ख़बर तक न मिलती।” कथाकार की यह मार्मिक टिप्पणी स्त्री-वर्ग के प्रति भारतीय पुरुष-समाज की असंवेदनशीलता से परिचय कराती है और सामाजिक ढाँचे पर भी एक सार्थक सवाल छोड़ती है।

अस्पताल का कंपाउंडर बचन सिंह ‘राजा निरबंसिया’ कहानी का प्रतिनायक कहा जा सकता है। वह घायल मरीजों के फोड़ों को पके आम-सा दाब देता, खाल को आलू-सा छील देता। जगपती के खून से चिपकी पट्टी को पगड़ी की तरह खोलता है, तो जगपती के दर्द की कराह से विचलित चन्दा मुँह में धोती का पल्ला ठूँसकर आह और आँसू रोकने की कोशिश में असफल होती है। बचन सिंह चन्दा की आँखों से बह रहे करुणा से कम प्रभावित होता है और यौवन भरे स्वास्थ्य व सौंदर्य से ज़्यादा। स्त्री-सुलभ समझदार स्वभाव से वह ताड़ लेती है कि बचन सिंह उसके पति जगपती के लिए ताकत की दवाइयों की निःशुल्क व्यवस्था किस छुपे आशय से कर रहा है। जगपती न तो उधार की दवाई चाहता है और न किसी की दया का पात्र बनना, क्योंकि वह भी पुरुष मनोवृत्ति को पहचानता है और यह भी। कर्ज कोढ़ का रोग होता है, एक बार लगने से तन तो गलता ही है, मन भी रोगी हो जाता है। वह बचन सिंह की आँखों में बस रहे दानव और जगपती के आँचल में सिमटी हुई विवशता को चुपचाप महसूस करता है।

जगपती एक ओर आत्मसम्मान और कुलीन मरजाद की रक्षा करना चाहता है और दूसरी ओर आर्थिक अभावों को झेलते-झेलते अपने आत्मगौरव के खिलाफ कंपाउंडर बचनसिंह की दया, करुणा और सहायता की आड़ में पनपते षड्यंत्र और वासनात्मक इच्छाओं के प्रति तटस्थ और निर्वैयक्तिक होता जाता है। उधर बचन सिंह चन्दा की आर्थिक विवशता का नाजायज लाभ लेते हुए उसे अपनी वासना का शिकार बनाना चाहता है। अपने सुहाग को बचाये रखने की मनोकामना के साथ ही चन्दा के भीतर लोक-व्यवहार का ख्याल और अपने को यौन-शोषण से बचाने का भाव भी लगातार बना रहता है।

अस्पताल में ही जगपती अपनी बीमारी और अपनी आत्मा से एक साथ लड़ता है। चन्दा के भोले स्नेह और विवशता को जानते हुए बचन सिंह की दया से जूझने का संकल्प लेता है। चन्दा जगपती की बेचैनी, और पीड़ा को जानकर सोने का कड़ा बेचकर दवा लाने और किसी की मेहरबानी से न दबने की बात कहती है। जगपती कहता है 'मुझसे पूछा तक नहीं और....' खुद ही मन की कमजोरी दाब जाता है। वह सोचता है कि कड़ा बेचने से तो अच्छा था कि बचन सिंह की दया ही ओढ़ ली जाती। उसे पछतावा भी होता है कि नाहक ही वह बड़ी-बड़ी बातें कह जाता है, ज्ञानियों की तरह सीख दे देता है। यहीं उसके वर्गीय चरित्र की दुविधा, संशय और अवसाद उभरता है। चन्दा अपने स्वाभिमान को बचाने के लिए दवाइयों के बदले बचन सिंह को सोने का कड़ा देना चाहती है, किन्तु पुरुष मानसिकता की धूर्तता का प्रतीक बचन सिंह उस सोने के कड़े को चन्दा की कलाई पकड़कर उसमें पहना देता है। दूसरे दिन सुबह अस्पताल में जगपती का बिस्तर ठीक करती हुई चन्दा जगपती को उदास, असमंजस में और निरीह प्रतीत होती है।

बचन सिंह द्वारा उपलब्ध कराई गयी दवाइयों और चन्दा की सुश्रूषा से पंद्रह बीस दिन में जगपती की हालत सुधरती है। बचन सिंह का तबादला भी उसके शहर मैनपुरी के सदर अस्पताल में होने की खबर उसके अन्तर्मन में रोगों के छुपे हुए भय से राहत तो देती है किन्तु "दूसरे ही क्षण, उसका दिल अकथ भारीपन से भर गया। पता नहीं क्यों, चन्दा के अस्तित्व का ध्यान आते ही उसे इस सूचना में कुछ ऐसे नुकीले काँटे दिखाई देने लगे, जो उसके शरीर में किसी भी समय चुभ सकते थे, जरा सा बेखबर होने पर बीध सकते थे। और तब उसके सामने आदमी के अधिकार की लक्ष्मण-रेखाएँ धुँएँ की लकीर की तरह काटकर मिटने लगीं और मन में छुपे सन्देह के राक्षस बाना बदल योगी के रूप में घूमने लगे।" बहरहाल जगपती थोड़ा स्वस्थ होकर चलने फिरने लगता है तो चन्दा उसे लेकर घर लौट आई। वह जब तक घर पहुँचती है अँधेरा हो चुका होता है और उसकी गली में तो शाम से ही अँधेरा छाने लगता है। किन्तु इस अँधेरे में लौटकर भी उन्हें लगता है कि वे वनवास काटकर राजधानी लौटे हैं। इसी सन्दर्भ में लेखक ने जगपती के जीवन में आने वाले घोर अंधकार की पूर्व सृष्टि की है और उस अंधेरे को कम करने वाली अगल-बगल की दराजों दीवारों से छनकर आने वाली मद्धिम सी रोशनी का भी वर्णन है। "जब अंधेरे में जगपती के घर का दवाजा खड़का तो उसकी चाची ने अपने जंगले से देखा और वहीं से बैठे-बैठे ऐलान कर दिया-राजा निरबंसिया अस्पताल से लौट आए....कुलमा भी आई है।" जगपती अँधेरे घर में घुसते ही हाँफने लगता है। झुँझलाते हुए चन्दा से कहता है, "अंधेरे में क्या मेरे हाथ पैर तुड़वाओगी। भीतर जाकर लालटेन जला लाओ न।" वह कहती है, "तेल नहीं होगा, इस वक्त ऐसे ही काम..।"

"तुम्हारे कभी कुछ नहीं होगा। न तेल न....।" जगपती का यह वाक्य चन्दा के मातृत्व पर, संतानहीनता की स्थिति पर गहरी चोट कर जाता है। दोनों की रात व्यथा, पीड़ा, अफ़सोस में कटती है। चन्दा सिसकते-सिसकते न जाने कब सो जाती है।

राजा निरबंसिया के प्रतीक को लेकर कहानी दो समानांतर कथा रूपों में विकसित होती है। जैसाकि कहा जा चुका है यह कहानी परंपरित लोक-कथा-शिल्प और वर्तमान विसंगति-बोध के दंश, विवशता में उपजे हुए पश्चाताप और आत्मग्लानि की कहानी है। यह दो अलग-अलग युगों के भिन्न चरित्र-नायकों की कहानी बन जाती है। एक राजा निरबंसिया-जो पौराणिक अथवा लोक-कथात्मक है और दूसरा जगपती-जग का पति याने राजा-वह भी निर्वंश जो इस समाजवादी गणतंत्र में भी अपनी संपूर्ण जीवंतता के साथ जटिल होती जा रही जीवन स्थितियों में संघर्ष करना चाहता है।

जगपती के भीतर अपने द्वारा प्रयुक्त शब्दों से ही लांछन और क्षोभ उत्पन्न होता है। वह खुद अपने भीतर पनप रहे जंगलीपन और बर्बरता की परिकल्पना से काँप उठता है। क्रूरता, हिंसकवृत्ति और बर्बरता के थमने पर वह चन्दा की खाट की ओर बढ़ता है। वह चन्दा के सौंदर्य को महसूस करता है-“चन्दा के बिखरे बाल, जिनमें हाल के जन्मे बच्चे के गभुआरे वालों की सी महक, दूध की कचाँध, शरीर के रस की-सी मिठास.....वह माथा जिस पर बालों के पास तमाम, छोटे-छोटे, नरम-नरम से रोएँ.... रेशम से..... और उस पर कभी लगायी गयी सेंदुर की बिंदी का हल्का मिटा हुआ आभास.... नन्हें-नन्हें निर्द्वंद्व सोए पलक।.... फूल की पंखुरी से पतले-पतले होंठ, उन पर पड़ी अछूती रेखाएँ, जिनमें सिर्फ दूध-सी महक।” जगपती ने दोनों हथेलियों को पसारकर उसके सिर को अपनी सीमा में भर लेना चाहा कि तभी कोई कठोर चीज उसके हाथों से टकराई। अँधेरे में बँधे रुमाल में सोने के कड़े पहचानकर उसे साँप सूँघ जाता है। एक कड़वे सच को इस तरह छिपाये जाने से वह बुरी तरह बिखर कर मानसिक तौर पर क्षत-विक्षत हो जाता है।

जगपती के सामने विवश जीवन का दारुण परिदृश्य भयावह रूप में खुल जाता है। इतने दिन गैरहाज़िर रहने से उसकी मुहर्रिर वाली नौकरी छूट ही गयी है। वह कोई छोटा-मोटा धन्धा शुरू करना तो चाहता है परन्तु पूँजी नहीं है। सोने के कड़े माँगकर वह मातृत्व से वंचित चन्दा का सतीत्व और स्त्रीत्व भी छीनना नहीं चाहता। गाँव-गिराँव, नाते रिश्ते में कोई उधार देनेवाला भी नहीं है। बेरोज़गारी की तंगी और मुफलिसी में भटकता रहता है। एक दिन संध्या के समय घर पहुँचता है तो बरोठे में रखी साइकिल देखकर चौंकता है। कौन आया होगा? पत्नी से बातचीत करते हुए कंपाउंडर बचन सिंह की उपस्थिति को परिस्थितिवश स्वीकारना पड़ता है। बचन सिंह ने आड़े समय सहायता ज़रूर की है, पर वह यह भी जानता है-जिससे कुछ लिया जाएगा, उसे दिया भी जाएगा।

कमलेश्वर ने जगपती के अन्तर्द्वंद्व को सामने रखकर भारतीय जनजीवन के निम्न मध्यवर्ग की त्रासदी और मोहभंग को बारीकी से रचा है। जगपती अपनी आर्थिक निःसहाय अवस्था में आत्मावलोकन, आत्म-विवेचन शैली में सोचता है-“शरीर का पिंजरा है, जो कुछ मांगता है..... कुछ....। वह तो दुःख में भी जी सकते का आदी है, अभावों में जीवित रह सकने वाला आश्चर्यजनक कीड़ा है। तो फिर वासना....। चन्दा का शरीर लेकर उसने उस क्षणिकता को देखा है।”

कमलेश्वर न केवल पात्रों, आर्थिक स्थिति के कारण उनके भीतर बनने वाले मनोभावों की ओर संकेत करते हैं, बल्कि विषमतामूलक-व्यवस्था के दंश के बीच निम्न मध्यवर्गीय पात्र की वर्गीय स्थिति और मानसिकता का भी बेबाक चित्रण करते हैं। सुख हो या दुःख, शोषण हो या पोषण..... उसे सिर्फ काम चाहिए। वह उस घर में नहीं पैदा हुआ, जहाँ सिर्फ ज़बान हिलाकर शासन करने वाले लोग होते हैं वह उस घर में नहीं पैदा हुआ, जहाँ सिर्फ माँगकर जीने वाले होते हैं। वह उस घर का है, जो सिर्फ काम करना जानता है, काम

ही जिसकी आस है। यहाँ कमलेश्वर भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर करारी चोट करते हैं और इस व्यवस्था की बखिया उछाड़ते हैं जो असमानता के धागे से लगायी गयी है।

आखिरकार, एक दिन काम-धाम की समस्या बचन सिंह की आर्थिक सहायता से लकड़ी की टाल लगाकर हल होती है। तालाब वाले ऊँचे मैदान के दक्षिण की ओर जगपती की टाल लगती है। गाँठें एक ओर रखी गयीं, चैलों का चट्टा करीने से लग गया और गुदे चीरने के लिए डाल दिये गये। दो-तीन गाड़ियों का सौदा करके टाल चालू कर दी गयी, पर कामदार जगपती आंतरिक व्यथा से पीड़ित है। सामने लगे लकड़ियों के ढेर, कटे हुए तने देखकर निरीहता उसके मन में पनपती है, मानो एक व्यर्थ पिशाच का शरीर टुकड़े-टुकड़े कर सामने डाल दिया है। कुल्हाड़ी चलेगी.... रेशे-रेशे अलग होंगे।.... तब इनकी ठठरियों को सुखाकर किसी पैसे वाले के हाथ तौलकर बेच दिया जाएगा। कहानी का यह रूपक खुद उसी के लिए गढ़ा गया लगता है।

विवश जगपती को मक्कार और धूर्त बचन सिंह के अस्तित्व के सामने अपना अस्तित्व डूबा सा लगता है-“अक्सर संध्या के समय बचन सिंह उसके घर-बिक्री-व्यापार की बात करने चला आता। चन्दा खाते वक्त उस पर ध्यान न देकर बचन सिंह की पहवाह ज़्यादा करती। हीनभावना में यह बात उसे और भी कचोटती। रात में खाना खाकर जगपती टाल पर सोने के लिए चला जाता। चोरी-चमारी का डर था और कोई चौकीदार अभी तक मिला नहीं था। अपने जीवन की सार्थकता, परिवेश की व्यर्थता पर मन ही मन तर्क-वितर्क करता। अनायास उसका दिल भर-भर आता। पता नहीं, कौन-कौन से दर्द एक दूसरे से मिलकर तरह-तरह की टीस, चटख और ऐंठन पैदा करने लगते।”

निरुपाय जगपती को अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व एक फ्रैण्टसी की तरह, यथार्थ और कल्पना के स्तर पर वीभत्स रूप में रूपायित होता दिखता। टाल के सामने की ओर ताड़ के वृक्ष के उस ओर बनी कब्र पर जब उसकी नज़र जाती है तो वह देखता है वहाँ सवेरे-सवेरे कोई पर्दानशीन औरत आकर बेला और चमेली के फूल चढ़ा जाती। फेरे लेती, माथा टेकती और उदास भाव से चलकर आगे तेज़ी से मुड़कर बिसातियों के मुहल्ले में खो जाती। जगपती को लगता, “रात की तनहाइयों में..... बबूल के काँटों के बीच उस सांय-सांय करते ऊँचे-नीचे मैदान में जैसे उस कब्र से कोई रूह निकलकर निपट अकेली भटकती रहती।” यह स्थिति इस कहानी की आसन्न त्रासद स्थिति का पूर्व संकेत है।

‘राजा निरबंसिया’ संकलन की भूमिका में कमलेश्वर नयी कहानी के सौंदर्यशास्त्र को निरूपित करते हुए लिखते हैं-“कभी आपने ज्वालामुखी के शिखर पर बैठे हुए व्यक्तियों की कल्पना की हो, उनके अंतर्द्वंद्व और मानसिक स्थितियों के अध्ययन की चेष्टा की हो और ऐसा सोचा हो कि इन्हें किस प्रकार विस्फोटों की अग्नि से बचाकर जीवन का मंत्र दिया जाए, तो नयी कहानी का धरातल और नये कहानीकारों की प्रवृत्तियाँ आपके सामने स्पष्ट हो उठेंगी।”

नयी कहानी अपनी अंतर्वस्तु में नयेपन के साथ-साथ शिल्प में भी नये प्रयोगों को अपनाती है। निर्वंश आधुनिक जगपती की कथा पुरातन नायक राजा निरबंसिया की गाथा से कुछ मायने में भिन्न है। ‘राजा रोज़ सवेरे टहलने जाते थे। एक दिन सड़क पर झाड़ू लगाने वाली मेहतारानी उन्हें देखते ही झाड़ू-पंजा पटककर माथा पीटने लगी और कहने लगी, हाय राम! आज राजा निरबंसिया का मुँह देखा है, न जाने रोटी भी नसीब होगी कि नहीं। ... न जाने कौन-सी बिपत टूट पड़े!.... राजा दुःखी भाव से महल लौटते हैं उसी रात रानी अपने पुत्र होने की मनोकामना के पूर्ण होने का स्वप्न-संदेश पाती है। राजा की तलाश करती हुई वह उस सराय तक पहुँच जाती है, जहाँ वे टिके हुए थे। रात्रि में भेष बदलकर

भठियारिन के रूप में सेवा करते राजा के पास रात गुज़ारती है और प्रातः उनके जागने के पहले सराय छोड़ महल लौट आती हैं। राज्य में राजा के कहीं निकल जाने की ख़बर फैल जाती है।

और राजा की इस कहानी के समानांतर जगपती की भी एक स्थिति है- उस दिन टोले मुहल्ले के हर आँगन में बरसात के मेंह की तरह यह ख़बर फैल जाती है कि चन्दा के बाल-बच्चा होने वाला है। कमलेश्वर कस्बाई मानसिकता और संकीर्ण प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि, “नुक्कड़ पर जमुना सुनार की कोठरी में फिंकती सुराही रुक गई। मुंशी जी ने अपने मीजान लगाना छोड़ विस्फारित नेत्रों से ताककर खबर सुनी। बंसी किराने वाले ने कुएँ में से आधी गई रस्सी खींच, डोल मन पर पटककर सुना। सुदर्शन दर्जी ने मशीन के पहिए को हथेली से रगड़कर रोककर सुना। हंसराज पंजाबी ने अपनी नील लगी मलगुजी कमीज की आस्तीनें चढ़ाते हुए सुना और जगपती की बेवा चाची ने औरतों के जमघट में भेद भरे स्वर में सुनाया-आज छह साल हो गये शादी को, न बाल, न बच्चा, न जाने किसका पाप है उसके पेट में।.... और किसका होगा सिवा उस मुसटंडे कंपोटर के। न जाने कहाँ से कुलच्छनी इस मुहल्ले में आ गयी। इस गली की तो पुश्तों से ऐसी मरजाद रही है कि गैर मर्द औरत की परछाई तक नहीं देख पाये। यहाँ के मरद को पड़ोसी के घर की जनानियों की गिनती तक नहीं मालूम।.... उसका चेहरा तमतमा गया.... सब औरतें देवलोक की देवियों की तरह गंभीर बनी अपनी पवित्रता की महानता के बोझ से दबी धीरे-धीरे खिसक गयीं।”

जगपती यह खबर फैलने के पहले ही टाल पर चला गया, वह लगभग सुन्न की तरह दिन भर पड़ा रहा। रहा तो टाल पर ही पर जैसे कि वह वहाँ हो ही न रात गहराने पर उसके भीतर एक हिंसक पशु जगा तथा क्रोध और उत्तेजना से भरकर वह घर की ओर चल पड़ता है। गली के अंधेरे में उसके पैर ऐसे पड़ रहे थे जैसे हिकारत भरी कालिख में उसकी साँस रुक जायेगी।

घर के भीतर चन्दा ने भी दिन भर अनमने भाव से जैसे तैसे दिन काटा दोपहर में जगपती के रोज की तरह खाने के लिए न आने की ओर भी उसका ध्यान प्रायः नहीं गया। अस्त-व्यस्त-सी आसमान निहारते-निहारते सो गयी थी। जगपती को उसके चेहरे पर नारीत्व की प्रौढ़ता दिखायी दी-“फूला-फूला मुख। जैसे टहनी से तोड़ फूल को पानी में डालकर ताज़ा किया गया हो, जिसकी पंखुरियों में टूटन की सुरमई रेखाएँ पड़ गयी हों पर भीगने से भारीपन आ गया हो।” जगपती ने चाहा कि अपने हाथों से उसका शरीर छू-छूकर सारा कलुष पोंछ दे। साँसों की अग्नि में तपाकर फिर पवित्र कर ले।.... कहे देवलोक से किस शापवश निर्वासित हो तुम इधर आ गयी चन्दा? यह शाप तो अमिट था।”

तभी चन्दा हड़बड़ाकर आँखें खोलती है। मन में घर बसाए हुए अंधकार और निस्तब्ध परिवेश का वर्णन कमलेश्वर ने बड़े काव्यात्मक और संकेतात्मक अन्दाज में किया है। खाना खाते समय कौर जगपती के गले से नीचे नहीं उतरता है। चन्दा बहुत सधे शब्दों में कहती है-“कल मैं गाँव जाना चाहती हूँ, भैया कल लेने आ रहे हैं।” जगपती वैसे ही डूबे-डूबे हुए स्वर में कहता है-“तो ठीक है।” चन्दा का स्त्री सुलभ बाँध टूट गया और वह कातर भाव से फफककर रो पड़ती है। जगपती क्षणभर के लिए विचलित तो हुआ, किन्तु वह ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ा-“बेशर्म औरत।.... उस वक्त नहीं सोचा था, जब.... जब मेरी लाश तले।”

सिसकियों के बीच चन्दा का स्वर फट पड़ा, ...“तब, तब की बात झूठ है।.... लेकिन जब तुमने मुझे बेच दिया।”..... जगपती का भरपूर हाथ चन्दा की कनपटी पर आग सुलगाता हुआ पड़ता है। विपरीत परिस्थितियों में शब्दों की सांकेतिकता भावों की तड़प के आदान-

प्रदान के बीच उभरते हुए और अंतर्द्वंद्वभरे क्षणों को, दृश्य के रूप में उपस्थित करने का जो कौशल इस संवाद और भाव में व्यक्त है, वह कहानी को एक नई जमीन देता है।

जगपती की स्थिति भी राजा निरबंसिया की तरह ही है, लोक-कथा में राजा की रानी भटियारिन के वेश में राजा के देह-संपर्क से गर्भवती होती है और आधुनिक कहानी की नायिका-आर्थिक परिस्थितियों का जाल बनाकर शरीर तक पहुँचने वाले मक्कार के निरंतर सान्निध्य में। इसी मानसिक द्वन्द्व में जगपती सोचता है-“क्या वह ठीक कहती थी. ... जब तुमने बेच दिया.... क्या बचन सिंह ने टाल के लिए जो रुपये दिये थे, उसका ब्याज चुकता हुआ? क्या सिर्फ वही रुपये आग बन गये, जिसकी आँच में उसकी सहनशीलता, विश्वास और आदर्श मोम से पिघल गये?” वह पेड़ की लकड़ी काटनेवाले को हरी पत्तियों से भरे शाख को न काटने का निर्देश देता है, पर लकड़हारा शकूरा उस्तादी अन्दाज में कहता है कि “हरा होने से क्या, यह तो उखट गया है। अब इसमें कौन से फल-फूल आएँगे। चार दिन में पत्ती झुरा जाएँगी।” जगपती के साथ उसकी कहानी के भी अंत का यह एक दारुण संकेत भी है।

लोककथा का राजा परदेस से धन कमाकर गाड़ी में लदवाकर देश लौटता है। राजा की गाड़ी का पहिया महल से कुछ दूर झाड़ी में उलझ जाता है। कोई पंडित बतलाता है कि ‘सकट’ के दिन का जन्मा बालक अगर अपने घर की सुपारी लाकर इसे छुआ दे तो पहिया निकल आएगा। वहाँ खेलते हुए दो बालक आकर कहते हैं कि हमारी पैदाइश सकट की है। आधा धन देने का वायदा करो, तब सुपारी लाएँगे। लोक-कथा अपनी परम्परागत कथा-शैली के ही अनुसार संयोग, शर्त, टोने-टोटके और ग्रामीण जन-विश्वास की लीक पर आगे बढ़ती है। राजा उन बालकों की बात मान लेता है। वे दौड़े-दौड़े घर गये। सुपारी लाकर छुआ दी, फिर घर का रास्ता बताते आगे-आगे चले। आखिर गाड़ी राजा के महल के सामने रुकी। राजा को आश्चर्य हुआ कि हमारे ही महल में ये बालक कैसे आये? रानी ने उन्हें विश्वास दिलाने की कोशिश की कि ये बालक उन्हीं के राजकुमार हैं परन्तु राजा द्वारा विश्वास न किये जाने पर वह दुःखी हुई।

राजा निरबंसिया की कहानी के समानांतर जगपती भी अपनी पत्नी चन्दा के लड़का होने की खबर मुंशी जी से जानकर अन्यमनस्क रहता है। मुंशी भी कम घाघ नहीं हैं। मुहल्ले की सुनी-सुनायी बातों पर पर्दा डालते हुए कहता है-“भगवान के राज में देर है, अंधेर नहीं, जगपती भैया”.... जगपती बमुश्किल जवाब देता है-“देर और अंधेर दोनों हैं।” मुंशी भारतीय पुरुष-वर्ग के अहम और दंभ के अनुसार तिरिया चरित्र पर छींटाकशी करता है। बतलाता है कि “चन्दा किसी दूसरे आदमी के घर बैठ रही है.... कोई मदसूदन है वहीं पर। बच्चा दीवार बन गया है। चाहते तो वो यही हैं कि मर जाये तो रास्ता खुले।.... सुना है, बच्चा रहते भी वह चन्दा को बैठाने को तैयार है।.... अदालत से तुम्हें बच्चा मिल सकता है। अब काहे का शरम लिहाज।”

अँधेरे में घर की गली पार करते हुए उसे चाची का ताना पुनः सुनना पड़ता है-“आ गये सत्यानासी! कुलबारेन।”

सुन्न और अन्यमनस्क जगपती की पुरानी स्मृतियों के दंश भी गहरे होते हैं-“आ गये राजा निरबंसिया! सत्यानासी, कुलबारेन।” खुद अपने द्वारा, चन्दा का कहा गया वाक्य उसे और भी टीसता है-“तुम्हारे कभी कुछ न होगा।” इस परिस्थिति को और भी ज्यादा स्पष्ट करने के लिए कथा के वाचक (लेखक) ने परिस्थितियों की मार खाते-खाते निम्न मध्यवर्गीय पुरुष चेतना के भीतर मूल्यों के संक्रमण और द्वन्द्व को, आधुनिकता के दंभ में जीने वाले आदमी की विकल मानसिकता को और भी स्पष्ट करने के लिए जगपती के मन में उठने

वाली दुविधा और सुविधा को कुछ इस तरह खोला है-“चन्दा के लड़का हुआ है। वह कुछ और जनती, आदमी का बच्चा न जनती। वह और कुछ भी जनती, कंकड़-पत्थर। वह नारी न बनती, बच्ची ही बनी रहती, उस रात की शिशु चन्दा। पर चन्दा यह सब करने क्या जा रही है? उसके जीते जी, वह दूसरे के घर बैठने जा रही है? कितने बड़े पाप में धकेल दिया चन्दा को....पर उसे भी कुछ तो सोचना चाहिए। आखिर क्या? पर मेरे जीते-जी तो यह सब अच्छा नहीं। वह इतनी घृणा बर्दाश्त करके भी जीने को तैयार नहीं है। या मुझे जलाने को। वह मुझे नीच समझती है, कायर.... नहीं तो एक बार खबर तो लेती। बच्चा हुआ। तो पता तो लगता। पर नहीं, वह उसका कौन है? कोई भी नहीं। औलाद ही तो स्नेह की धुरी है, जो आदमी औरत के पहियों को साधकर तन के दलदल से पार ले जाती है.... नहीं तो हर औरत वेश्या है और हर आदमी वासना का कीड़ा। तो क्या चन्दा औरत नहीं रही? वह जरूर औरत थी.... पर मैंने स्वयं उसे नरक में डाल दिया।.... वह बच्चा मेरा कोई नहीं, पर चन्दा तो मेरी है। एक बार उसे ले आता, फिर यहाँ....रात के मोहक अंधेरे में उसके फूल से अधरों को देखता....निर्द्वंद्व सोए पलकों को निहारता....साँसों की दूध-सी अछूती महक को समेट लेता।

आज का अँधेरा। घर में तेल भी नहीं जो दीया जला ले। और फिर किसके लिए कौन जलाए? चन्दा के लिए...पर उसे तो उसने बेच दिया था। सिवा चन्दा के कौन-सी सम्पत्ति उसके पास थी, जिसके आधार पर कोई कर्ज देता? कर्ज न मिलता तो यह सब कैसे चलता? काम....पेड़ कहाँ से कटते? और तब शकूरे के वे शब्द उसके कानों में गूँज गए, ‘हरा होने से क्या, उखट तो गया है....’ वह स्वयं भी तो एक उखटा हुआ पेड़ है, न फल का, न फूल का, सब व्यर्थ ही तो है। जो कुछ सोचा, उस पर कभी विश्वास न कर पाया। चन्दा को चाहता रहा, पर उसके दिल में चाहत न जगा पाया। उसे कहीं से एक पैसा माँगने पर डाँटता रहा, पर खुद लेता रहा और आज...वह दूसरे के घर बैठ रही है...उसे छोड़कर...वह अकेला है...हर तरफ बोझ है, जिसमें उसकी तस-तस कुचली जा रही है, रग-रग फट गई है।...और वह किसी तरह टटोल-टटोलकर भीतर घर में पहुँचा...”

इस पूरे उद्धरण में शब्द अर्थ और भाव एक ऐसी प्रश्नाकुल जिज्ञासा और विवेक का सृजन करते हैं, जो हमारे समय का असली चेहरा है, जो अपने को भी कठघरे में खड़ा कर सकता है, और दूसरे के लिए सहानुभूतिपूर्वक सोच सकता है। यही तो असली लोकतांत्रिक चेतना है। रानी के चरित्र पर अविश्वास करने पर वह कुल देवता के मंदिर पहुँचती है। हमेशा विश्वास का संकट अग्निपरीक्षा की धरती पर ही प्रकट होता है। स्त्री को ही अपने को पवित्र प्रमाणित करना होता है।

लोक-कथा में माँ सुनाती है-अपने सतीत्व को सिद्ध करने के लिए रानी ने घोर तपस्या की। देवता प्रसन्न हुए। दोनों बालकों को दैवी शक्ति के अनुरूप तत्काल जन्मा शिशु रूप प्राप्त होता है। रानी की छातियों से दूध की धार शिशुओं के मुँह में गिरती है। राजा अपनी रानी के सतीत्व का प्रमाण पाकर उसके चरण पकड़ लेता है..... देवी के रूप में प्रशंसा कर पुत्रों को सहेजकर पुनः राज-काज निबाहता है।

दिलचस्प है यह प्रसंग कि, आधुनिक कथा का नायक अपनी नपुंसकता और कायरता के प्रमाणित हो जाने के कारण सारा कारोबार त्याग, अफीम और तेल पीकर मर जाता है। चन्दा के पास कोई दैवी शक्ति नहीं, जगपती। “वह कोई राजा नहीं था, वह कर्जदार रहा है कंपाउंडर बचन सिंह का।” उधर राजा अपने राज में मन्दिर बनवाता है। सिक्कों पर राजकुमारों का नाम खुदवाता है, ताकि राजा के उत्तराधिकारी की पहचान बन जाए। इधर जगपती अपनी मृत्यु से पूर्व दो परचे लिखकर छोड़ता है-एक चन्दा के नाम और दूसरा कानून के नाम।

चन्दा के नाम परचे में लिखा था-तुम बच्चे को लेकर चली आना।....आदमी को पाप नहीं पश्चाताप मारता है। कानून के नाम परचा है कि-मैंने अफीम नहीं, रुपये खाये हैं। उनमें कर्ज का ज़हर था।.... मेरी लाश तब तक न जलायी जाए, जब तक चन्दा बच्चे को लेकर न आ जाये। आग बच्चे से दिलवायी जाए बस।

कहानी ख़त्म होने पर बच्चे फूल चढ़ाते हैं, गौर देवी पर और कहानीकार की कहानी ख़त्म होती है पर.....।

कहानी का अंत.... कुछ और आगे भी है के संकेतपूर्ण अंतराल और डॉट के निशानों से होता है। यह अन्त बहुत सारे सवाल छोड़ता है। परंपरा और आधुनिकता की टकराहट प्राचीन मानव मूल्यों, पद, मान, गर्व, पुरुषोचित अभिमान, नारी के चरित्र की अग्निपरीक्षा, सतीत्व की अवधारणा पर भी है और विसंगतिपूर्ण यथार्थ की विषमताओं से टकराहट की स्थिति से भी है।

अपने जीवन की त्रासदी का मुकाबला आधुनिक कथा का नायक, जगपती निस्संग होकर जीवन से पलायन करके आत्मघात के द्वारा करता है। नपुसंकता, कायरता की लानत झेलते हुए उसे जीवन असंभव प्रतीत होने लगता है, पर यह सब सहते हुए भी जीवन को दांव पर लगाकर भी वह उन मूल्यों को नहीं छोड़ पाता जिसमें औलाद की चाहत है, बेटे से मुखाग्नि पाने की लालसा है, भले ही वह जानता है, कि चन्दा के गर्भ से निकला हुआ बच्चा उसका नहीं है। जगपती की यह इच्छा संक्रमणकालीन मूल्य-बोध से निकली है जिसमें यह भाव बनता है कि चन्दा अपनी है तो उसका बेटा भी अपना है। भले ही यह भाव जीते जी स्वीकार्यता नहीं प्राप्त कर पाता। औलाद की चाहत और उसका द्वन्द्व पूरी कहानी में जगपती के ही हिस्से हैं, चन्दा की आरे से वह कभी व्यक्त नहीं होता। 'तुम्हें कभी कुछ न होगा' का आरोप सहते रहने वाली चन्दा को सब कुछ होता है, और आरोप लगाने वाले जगपती को प्राण देकर उसे स्वीकार करना पड़ता है

4.4 सारांश

आधुनिकता और परम्परा-दोनों से एक साथ जूझने वाले भारतीय परिवेश में पारंपरिक मूल्यों के प्रति प्रश्नाकुलता का भाव और व्यक्ति-मन में अतीत और वर्तमान को लेकर गहरा अंतर्द्वंद्व लगातार बना हुआ है। विवेच्य कहानी कमलेश्वर जी के शब्दों में, "भारतीय ग्राम्य परिवेश में पारंपरिक मूल्यों के प्रति उभरते हुए दृष्टिकोण, आस्था के स्थान पर उभरती हुई अनास्था, संबंधों की सार्थकता के प्रति संशयात्मक दृष्टि, अस्वीकृति के संबंधों को अपने समय की संपूर्ण चेतना एवं कुशल संप्रेषण द्वारा रूपायित करती है।.... समाजशास्त्रीय संदर्भों और साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से यह कहानी काफी समय तक उपयोगी और चर्चित रहेगी।"

कहानी का शिल्प दो समानांतर कथा केन्द्रों की समान्तरता की निरंतरता को बनाये रखने का अचूक शिल्प साधने में सफल और सार्थक है। राजा की पारंपरिक कहानी कथा-कथन शैली में है और जगपती की आत्मविश्लेषण, फ़ैटेण्सी और परिवेश के दबाव से टक्कर लेने के मानसिक दंश की है। आंचलिक परिवेश का चरित्रांकन; किस्सागो शैली तथा भाषा-शैली की संप्रेषणीयता कहानी की संरचना, सोच और संवेदना को नया कलेवर प्रदान करती है। भाषा, सोच-विचार और परंपरा में सामंती ढांचा इतना महत्वपूर्ण है, अलग अलग वर्गों के लिए मूल्य-प्रणाली और विवेचन भी अलग-अलग है। कहानी यह संदेश छोड़ने में भी सफल है कि वर्तमान जीवन-संघर्षों में अर्थिक स्थितियों की भूमिका इतनी बड़ी हो गयी है कि वह अन्तरंग और आत्मीय सम्बन्धों को भी तहस-नहस कर सकता है। इस सन्दर्भ की यह कदाचित् पहली कहानी भी है।

4.5 अभ्यास

1. कमलेश्वर की कथा-संवेदना को स्पष्ट कीजिए।
2. ‘नयी कहानी अपनी अंतर्वस्तु में नयेपन के साथ-साथ शिल्प में भी नये प्रयोगों को अपनाती है।’ ‘राजा निरबंसिया’ कहानी के आधार पर इस कथन की पुष्टि कीजिए।
3. ‘राजा निरबंसिया’ कहानी का कथा-सार बताइए।
4. टिप्पणी लिखिए-
 - अ) ‘राजा निरबंसिया’ कहानी का शिल्प-विधान
 - ब) ‘राजा निरबंसिया’ कहानी का चरित्र-‘जगपती’

4.6 खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति (सं.) देवीशंकर अवस्थी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

कहानी : नई कहानी, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

नयी कहानी : पुनर्विचार, मधुरेश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

कुछ कहानियाँ : कुछ विचार, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान, रामदरश मिश्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।